गुजरात में कृषि बदलाव एवं वर्ग संघर्ष

जान ब्रेमन (John Breman)

कुछ ही दशकों पूर्व ग्रामीण भारत का वर्णन गरीबी और निष्क्रियता के लिए किया जाता था, एक ऐसा समाज जो परम्पराओं में जकड़ा था। 1968 में प्रकाशित गुन्नार मिर्डल का बहुचर्चित अध्ययन उस विचारधारा का प्रभावी चित्रण करता है, जो कि बीसवीं शताब्दी के मध्य के आसपास विकास की पश्चिमी बहसों पर हावी रही। यद्यपि उनकी पुस्तक *एशियन ड्रामा* (Asian Drama) का विन्यास व्यापक है, लेखक ने मुख्य रूप से अपने तर्क इस विशाल आबादी वाले महाद्वीप के दक्षिणी हिस्से पर केन्द्रित किए हैं, ठीक-ठीक कहा जाए तो स्व-परिवर्तन के लिए अक्षमता पर, जो पूर्व ब्रिटिश भारत का चरित्र-चित्रण करती थी। मिर्डल ने यह चिन्ता व्यक्त की कि मृत्यु दर में हो रही कमी और लगातार बढ़ती उच्च जन्म दर के चलते हो रही विशाल जनसंख्या वृद्धि ने विकास के प्रयासों को व्यापक रूप से प्रभावहीन कर दिया है। उनके मतानुसार श्रम के न्यून उपयोग, जिससे कृषि उत्पादन की वृद्धि अवरुद्ध हुई है, को काबू में करने के लिए बड़े सांस्थानिक सुधारों की फौरी आवश्यकता थी। कृषि संसाधनों के एक मौलिक पुनः वितरण का विचार उनके मस्तिष्क में था, जिसके फलस्वरूप खेतिहरों के हाथ में भूमि दी जा सकती थी। ऐसे मौलिक सुधार के दोहरे लक्ष्य थे : एक राजनीतिक अर्थात सामाजिक ढाँचे में व्याप्त जटिल असमानताओं को कम करना; और दूसरा आर्थिक, अर्थात स्वामियों के एक अधिक विशाल समूह द्वारा उनको आवण्टित उत्पादन के संसाधनों का अधिकतम उपयोग करना। हालाँकि, नीतियों और राजनीति पर अपने बारीक व ज्यादा यथार्थवादी मूल्यांकन से मिर्डल को यह विश्वास हो गया कि इस तरह से ग्रामीण व्यवस्था को बदलने के लिए सरकार के पास आवश्यक इच्छाशक्ति व क्षमताओं का अभाव था। उनके विचार से, परम्परागत सम्पत्ति सम्बन्धों और कृषकों, जिन्हें 'विकासोन्मुख' नहीं समझा जाता था, के परम्परागत नजरिए में कोई मौलिक बदलाव लाने में सफल न हो पाने में एशियाई राज्य की 'ढीली' प्रकृति जिम्मेदार थी।

सामाजिक गतिशीलता का पूर्णत: अभाव भी नहीं था, इस बात का चित्रण तुलनात्मक रूप से छोटे किसी गाँव के कुलीन वर्ग के हाथों में खेती की भूमि का केन्द्रित होना था, जिसके अधिकतर सदस्य उच्च सामाजिक वर्ग की ओर गतिशील वे लोग थे जिन्होंने हाल ही में राजनीतिक शक्ति प्राप्त की थी। इस वर्ग के बढ़ते प्रभाव और इसके साथ जुड़ी बटाईदारों व खेतिहर मजदूरों की गिरती स्थिति से मिर्डल (Myrdal) पूर्णत: परिचित थे। उनका शक अवसरों को लेकर था कि सामाजिक सन्तुलन का छोटे उत्पादकों के विशाल समूह के पक्ष में झुकाव होगा, इसीलिए मिर्डल ने एक कृषि रणनीति की वकालत की, जो छोटे भूमिधारकों के

कुलीन वर्ग को आर्थिक विकास की प्रक्रिया और सामाजिक आधार के निर्माण में नेतृत्व प्रदान कर पाती।

यद्यपि यह नीति न तो परिष्कृत थी और न ही ज्यादा तर्कसंगत थी, फिर भी यह नीति अनुशंसा मिर्डल के विश्लेषण में एक प्रमुख क्रान्तिकारी परिवर्तन साबित हुई। नौकरशाही संस्थाओं का पूँजीपतियों के पक्ष में जो अप्रत्यक्ष झुकाव था और जिसे वे पहले ही दिखा चुके थे, उसे प्रभावशील कृषकों के हितों के उद्देश्यपूर्ण और व्यवस्थित संवर्धन में बदलने की आवश्यकता थी, जिससे कि आधुनिकता के असली ग्रामीण उद्यमियों के रूप में विकसित होने की उनकी क्षमता महसूस की जा सके। बढ़ते सामाजिक भेदभाव, जो ऐसे माहौल का अपरिहार्य परिणाम था, की भरपाई खेती के काम में लगे मजदूर वर्ग को संरक्षण एवं सुरक्षा मुहैया कराके करनी होगी। 'कल्याणकारी पूँजीवाद' (welfare capitalism) के आकर्षक नारे का प्रयोग करते हुए मिर्डल ने यह सुझाव दिया कि अधिकारियों को "निचले तबके के भूमिहीन लोगों को जमीन का एक छोटा टुकड़ा और उसके साथ ही जीवन के बारे में गरिमा और एक नए दृष्टिकोण के साथ-साथ आय का एक छोटा व स्वतंत्र स्रोत देना चाहिए" (खण्ड II, 1968: 1382)। इस प्रकार इस स्वीडिश अर्थशास्त्री ने यह सुझाया कि चूँकि भारत के विकास के लिए एक अधिक क्रान्तिकारी मार्ग पहुँच से परे था, अत: सामाजिक असमानता को पूँजीवादी तरीकों से हर सूरत में कम या कम-से-कम नियंत्रित तो किया ही जा सकता था। इस उम्मीद का दामन थामे, कि वे सब जिनके पास भले ही बहुत थोड़ी जमीन थी एक बेहतर जीवन जी सकते थे, वे अप्रत्यक्ष रूप से यह तर्क करते दिखते हैं कि इन निम्नतर वर्गों, जिनका ग्रामीण जनसंख्या में बाहुल्य है, को अपने जनसांख्यिकीय व्यवहार में आत्मसंयम की आवश्यकता दिखाई देगी और इसके फलस्वरूप वे अपनी रुचि से जन्म दर को काबू में करेंगे।

मिर्डल के विचारों की पुष्टि घटना-क्रम से हुई। जो रास्ता उन्होंने चुना उसे भारतीय नीति-निर्माताओं द्वारा 1970 और 1980 के दशक के दौरान उनके अनुमान से कहीं ज्यादा तत्परता से बढ़ावा दिया गया (चक्रवर्ती [Chakravarty], 1987: 24), जिसने वास्तव में कृषि में उत्पादन के पूँजीवादी तरीकों को अपनाने को सुकर बनाया। एकदम शुरुआती दौर में विलियम वरथीम ने हरित क्रान्ति को क्रियान्वित करने का कार्य अमीर किसानों को सौंपने की रणनीति की व्याख्या के लिए 'मजबूत पर दाँव लगाना' जैसे नारे का प्रयोग किया था (वरथीम [Wertheim], 1967: 259-278)। ये सच्चे 'भूमिपुत्र' उन बड़े जमींदारों, साहूकारों व व्यापारियों के चंगुल से बाहर आ गए हैं, जिनके अधीन औपनिवेशिक युग के दौरान वे पूर्व-या प्रारम्भिक-पूँजीवादी निर्भरता सम्बन्धों में जकड़े हुए थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के थोड़ा पहले और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भूमि और काश्तकारी सुधारों की शृंखला लागू होने के पश्चात मुख्य लाभार्थी होने के नाते उन्होंने 'प्रगतिशील किसानों' के तौर पर उन्हें सौंपे गए कार्यों, यथा– कृषि को आधुनिक बनाना और कृषि आधिक्य को बढ़ाना, से खुद को विमुक्त कर

लिया। इसके अतिरिक्त, और यह एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्धन था, इन कृषक उद्यमियों ने अपनी बचत का भाग कृषि से परे निवेश करना शुरू कर दिया था, एक उभार, जिसने ग्रामीण अर्थव्यवस्था की विविधता को उद्दीप्त करने के साथ-साथ ग्रामीण-शहरी सम्बन्धों को भी मजबूत किया।

उभरता हुआ पूँजीवाद एक मुख्य विचारधारा है, लेकिन यह ग्रामीण उत्पादन के ढाँचे को सभी जगह प्रभावित नहीं करता। बदलाव की प्रक्रिया देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग रफ्तार से हुई है। क्षेत्रीय असमानताएँ इस प्रकार से बढ़ी हैं जिससे यह शंका होती है कि समान विकास प्रतिमान के विभिन्न स्तरों में अन्तर मात्र से काफी कुछ दाँव पर रहता है। पूँजीवाद की ओर सामान्य झुकाव का एक मुख्य लक्षण असमान विकास है (पटनायक [Patnaik], 1986: 18-20)। दूसरा, यह शंकास्पद है कि क्या कृषक-पूँजीवादियों का आक्रामक, विस्तारोन्मुखी व्यवहार, उन बहुतेरे छोटे उत्पादकों जिनके पास उनके निपटान के लिए काफी कम संसाधन होते हैं, के लिए अनुकरणीय हेता है। आर्थिक पुनर्गठन जो कि चल रहा है, यदि हम ठीक तरह से उसके परिणाम के समझना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम गतिशीलता के रुझानों– अकसर ऊपर के बजाय अधिक नीचे की ओर– के साथ-साथ समाज की व्यापक मध्य श्रेणी के समेकन की क्रियाविधियों का भी ध्यान रखना आवश्यक है। तथापि मैं मिर्डल से सहमत हूँ कि जिस ताकत व गति से पूँजीवाद आगे बढ़ रहा है उसे कृषि पदानुक्रम के ध्रुवीय किनारों पर उस स्थिति पर जोर देकर दर्शाया जा सकता है।

गुजरात के दक्षिण में सूरत जिला कृषक पूँजीवाद के परकोटों में से एक है। विगत 25 सालों में बार-बार किए गए मैदानी कार्यों पर आधारित अनेक सूक्ष्म अध्ययनों के कारण ही मैं उत्पादन के इस साधन की प्रगति का दस्तावेजीकरण कर सका हूँ। कुलीन भूमिस्वामी और भूमिहीन सर्वहारा, यद्यपि आकार में असंगत हैं, तथापि दोनों मिलकर क्षेत्र की ग्रामीण जनसंख्या के लगभग दो-तिहाई हिस्सा का प्रतिनिधित्व करते हैं। संयुक्त रूप से, इन दो वर्गों द्वारा उपलब्ध कराई गई पूँजी और श्रम से कृषि उपज का एक अधिक बड़ा हिस्सा उत्पादित होता है।

8 एकड़ या उससे अधिक जोत-क्षेत्र वाले समृद्ध किसान ज्यादातर स्थानीय प्रमुख जाति के होते हैं। पिछली दो पीढ़ियों से उन्होंने जिला स्तर पर अधिकार का इस्तेमाल किया है। अपने स्वयं के आर्थिक व राजनीतिक संगठनों का गठन करके अब उन्होंने अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार स्थानीय क्षेत्र से कहीं आगे तक कर लिया है। राज्य द्वारा ग्रामीण इलाकों और कृषि की जानबूझकर की जा रही उपेक्षा के प्रति ऐसे उद्यमियों ने आक्रामक रूप से अपनी नाखुशी अभिव्यक्त की है। वे ग्रामीण लोकवाद को बढ़ावा देते हैं जो इस विचार का दृढ़ता से विरोध करता है कि किसी विकास-स्तम्भ रणनीति के बहाने शहरी-औद्योगिक हितों को वरीयता दी जानी चाहिए। भारत के अन्य हिस्सों में होने वाले छोटे किसानों के अन्य आन्दोलनों के

नेताओं की भाँति ही, इनके नेताओं को भी राजनेताओं पर कम भरोसा होता है और अकसर वे अपने कार्यकर्ताओं को एकत्रित कर उन पर दबाव डालते हैं। उनकी माँगें, जो कि जमींदारों के एक अनूठे मुहावरे (*kulak* idiom) के रूप में अभिव्यक्त की जाती हैं, छोटे भूमिधारक किसान को केन्द्र में रखने पर जोर देती हैं। अन्य ग्रामीण वर्गों के हित, जहाँ तक कि इन सब पर पूर्णतया विचार किया जाता है, भूमिपुत्रों के हितों की तुलना में दोयम दर्जे के होते हैं। चरण सिंह राष्ट्रीय स्तर पर ग्रामीण लोकवाद के इस मार्का के अग्रणी समर्थक थे (सिंह [Charan Singh], 1986; बायर्स [Byres], 1988)। उन्होंने कृषि और ग्रामीण उद्योग के बीच घनिष्ठ एकीकरण के आधार पर एक विकास पथ की रचना इस प्रकार से की जो किसान-खेतिहर की स्वायत्तता को कायम रखेगी। उनमें से एक नई किस्म के प्रबन्धक का उद्भव होगा जो शुरुआत में लघु उद्योगों का संचालन करेगा। ऐसा माना जाता है कि इस विकास प्रादर्श के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले रोजगार से सभी का कल्याण होगा।

क्या दक्षिण गुजरात में वास्तविकता इस परिदृश्य से मेल खाती है? वास्तव में कृषि उत्पादन में अपेक्षित वृद्धि हुई है, और इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अपने आप वास्तविक बदलाव आया है। हालाँकि, रोजगार के अवसरों में विस्तार भूमिहीन जनसंख्या में इजाफे से तालमेल नहीं बैठा पाया। कृषि पदानुक्रम की निचली पायदान के और फैलाव का कारण प्रवास है न कि उच्च उर्वरता। पूँजीवाद के लिए संक्रमण का एक परिणाम यह होता है कि श्रमिक वर्ग लम्बी दूरी के लिए गतिशील हो जाता है। मिर्डल ने अपने अध्ययन में इस बात के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी है, और यहाँ तक कि इस बात की सम्भावना को भी स्पष्ट रूप से निकाल दिया है। यदि प्रवास पर उनकी टिप्पणियों को पढ़ा जाए तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। उनके मतानुसार, ग्रामीण जनसंख्या का जीवन स्थिरता और एकाकीपन से नियत है, शहरी ठिकानों के लिए जाना एकमात्र अपवाद है। किसी भी अन्य कारक से बड़ा कारक निर्धनता होता है जो लोगों को उनके जन्म स्थान से बाहर जाने से रोकता है।

> व्यक्ति जितना अधिक निर्धन होगा, प्रवास पर उसके जाने की बाधाएँ उतनी ही प्रबल होंगी; निर्धनता जोखिम उठाने की गुंजाइश को कम कर देती है, नई चीजों के प्रयोग करने की प्रेरणा को कुण्ठित कर देती है, और पहलकदमी पर सभी अवरोधों को सख्त कर देती है (खण्ड III, 1968: 2140)।

दक्षिण गुजरात में मेरे द्वारा किए गए शोध के निष्कर्ष मिर्डल से काफी भिन्न हैं। बड़ी संख्या में श्रमिकों का फेर, प्राय: एक मौसम के लिए लेकिन कभी-कभी लम्बे समय के लिए भी, यह दर्शाता है कि पूँजीवाद के बाहरी अन्त:क्षेत्र के भीतरी इलाके ने उत्पादन के इस साधन को मजबूती से अपना लिया है। अन्त:ग्रामीण फेर, जो कि श्रमिक वर्ग के प्रवास के साहित्य में एक उपेक्षित विषय रहा है, यह दर्शाता है कि भारत के ज्यादातर हिस्सों में नवीन आर्थिक गतिशीलता का किस प्रकार प्रसार हुआ है। श्रमिक वर्ग की गतिशीलता और पूँजीवाद

हुकूमत के तहत उत्पादन के इस कारक से सम्बद्ध मूल्य दोनों से ही यह स्पष्ट होता है कि निर्धनता, कम होने के बजाय, गाँवों के ज्यादा लोगों के जीवन को क्यों पहले की तुलना में अभी ज्यादा नियंत्रित करती है। दक्षिण गुजरात में, क्षेत्र अध्ययन पर आधारित मेरे शोध के निष्कर्ष भी, मेरे मतानुसार भारत के अन्य स्थानों में हो रही बदलाव की प्रक्रिया को भी इंगित करते हैं (चक्रवर्ती, 1987: 27)। जो कष्ट मैंने वहाँ पर देखा उससे उस तार्किकता का खण्डन होता है कि मिर्डल ने, जो सम्भवत: उन्होंने स्वयं के बेहतर निर्णय के विरुद्ध दी थी, इसके लिए पूँजीवाद को जिम्मेदार ठहराया था।

एक नवीन परिदृश्य

दस साल पहले मैं भारत के पश्चिमी तट पर, दक्षिण गुजरात के समतल क्षेत्रों में कृषि अर्थव्यवस्था में हुए परिवर्तनों के श्रमिक सम्बन्धों पर पड़ने वाले प्रभावों पर शोध के लगभग मध्य में था। यहाँ एक नवीन परिदृश्य के उद्भव का कारण था एक सिंचाई प्रणाली का पूरा होना, जिससे इस उपजाऊ क्षेत्र के एक विशाल हिस्से में साल भर पर्याप्त जलापूर्ति सुनिश्चित हुई। अब इस जिले में नहरों का एक जाल बन गया था जिसका उद्गम ताप्ती नदी पर बने बाँध का जलाशय था। प्राकृतिक पारिस्थितिकी में इस प्रकार के हस्तक्षेप से उत्पादन की ताकतों ने विकास की एक नई ऊँचाई को छुआ। तेल और उसके बाद बिजली के पम्पों की बढ़ती उपलब्धता के चलते नए व अधिक गहरे कुएँ खोदना सम्भव हो पाया, जिससे बारहमासी सिंचित जमीन के क्षेत्र का भी विस्तार किया गया।

आर्द्र-भूमि की खेती की तरफ पारगमन (transition) करने से फसल के तरीकों में भी व्यापक परिवर्तन हुए। बाजरा, कपास और कुछ बहुत छोटी सीमा तक मूँगफली की खेती, जिसने लगभग एक शताब्दी तक कृषि-सम्बन्धी चक्र का निर्धारण किया था, ने धान, केला और उत्तरोत्तर गन्ने के उत्पादन के लिए रास्ता बनाया। अनेक गाँवों में अब आधी या उससे भी अधिक कृषियोग्य भूमि पर गन्ने की फसल लगाई जाती है।

यह कि कृषि और अधिक सघन हो गई थी और इसका कारण आंशिक रूप से सिंचित भूमि का विस्तार था, यद्यपि इस कारक के महत्त्व को कम नहीं ठहराया जा सकता। हरित क्रान्ति के फलस्वरूप भी उत्पादन में बढ़ोत्तरी हुई, जिसके लिए दक्षिण गुजरात का केन्द्रीय मैदान सबसे शुरुआती संकेन्द्रित क्षेत्रों में से एक है। 1962-63 में सघन क्षेत्र जिला कार्यक्रम से शुरुआत करते हुए निवेशों के नए पैकेज के प्रोत्साहन का आशय था कि क्षेत्र के किसानों के पास स्वयं के व्ययन हेतु उच्च गुणवत्ता के बीजों की किस्में, अधिक खाद, कृषि विस्तार सेवाएँ, और उदार ऋण सुविधाएँ हों, ताकि वे अपने उपकरणों, खेती के तरीकों और कृषि प्रबन्धन को आधुनिक बना सकें।

बेहतर बुनियादी ढाँचे के हिस्से के रूप में सड़क नेटवर्क का विस्तार एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारक था, जिससे परिवहन साधनों के यांत्रिकीकरण को प्रोत्साहन मिला था। क्षेत्र भ्रमण के दौरान आधुनिकता के अनेक संकेतों को कोई भी नजरअन्दाज नहीं कर सकता था। सड़कों पर गहन यातायात है : प्रसंस्करण या आगे परिवहन के लिए डिपो जाते कृषि उत्पाद से लदे हुए ट्रक और ट्रेक्टर ट्रेलर, भीड़ भरी लेकिन नियमित बसें, जिनके कारण ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुँच ज्यादा आसान हो गई है, और इसके विपरीत, सरलता से जाना; और साइकिलों, मोपेड, स्कूटरों, मोटर साइकिलों एवं कारों की भरमार, यह सभी गतिशीलता पर जोर देते हैं जो संचार के नए ढाँचे के कारण सम्भव हुई। इस जीवन्त चित्र की पृष्ठभूमि में गहन खेती के वे क्षेत्र हैं जहाँ साल भर जल, मशीनें और मजदूर मौजूद हैं। गैर-कृषि जिंसों व सेवाओं की आपूर्ति में भी बड़े पैमाने पर वृद्धि हुई है। गाँव की दुकानों की बढ़ती संख्या में अब ज्यादा और बेहतर उपभोग का सामान बिकता है, जो ग्रामीण जनता के कम-से-कम एक वर्ग की क्रय शक्ति में आए उठाव को दर्शाता है। 1960 के दशक के शुरुआती सालों में क्षेत्र अध्ययन के दौरान जिस परिदृश्य को मैंने जाना था (ब्रेमन, 1974: 231-233) वह अगले पच्चीस सालों में काफी हद तक बदल गया है, जिसे पहचाना नहीं जा सकता।

जनसांख्यिकीय वृद्धि ने कृषि संसाधनों पर और अधिक दबाव डाला है। समतल क्षेत्र के केन्द्रीय भाग में जनसंख्या घनत्व अब 350 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर से भी अधिक हो गया है। एक तरफ तो कृषि गतिशीलता ने रोजगार के नए अवसरों का सृजन हुआ है, वहीं दूसरी तरफ, मशीनीकृत खेती ने अकुशल मजदूरों की माँग को कम कर दिया है। हालाँकि, आर्थिक विविधता के चलते और प्राकृतिक वृद्धि की 2.6 फीसदी की वार्षिक दर, जिससे विगत 25 सालों के दौरान जनसंख्या में लगभग दोगुना वृद्धि हो गई है, होते हुए भी वास्तव में ग्रामीण जीविका के लिए कुल गुंजाइश बढ़ी है।

उत्पादन की ताकतों के विकास ने निर्माण व्यवसाय को जबरदस्त प्रोत्साहन दिया है। कच्चा माल अधिकतर उसी क्षेत्र से निकलता है और उसे लघु उद्योगों द्वारा पत्थरों, ईंटों, छत और फर्श की टाइलों, सीमेंट पाइपों, लट्ठों आदि में संसाधित किया जाता है। ऐसे उत्पादों की माँग में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिनका प्रयोग सड़कों और सिंचाई नहरों के साथ-साथ जनोपयोगी इमारतों व घरों के निर्माण में होता है। परिवहन के मोटरीकरण और कृषि के यांत्रिकीकरण, जिसमें अधिक तकनीकी कौशल की आवश्यकता होती है, के कारण आवागमन के व्यस्त चौराहों पर इनके रख-रखाव व मरम्मत की दुकानें खुल गई हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत नेटवर्क के विस्तार के चलते हीरा उद्योग को वहाँ स्थापित करना सम्भव हो गया है, जो कि कुछ दशकों पहले तक सूरत और नवसारी शहरों में ही स्थापित थे। विशेषकर 1970 के दशक में हीरों को तराशने व चमकाने के कार्यस्थल बड़ी संख्या में अनेक गाँवों में खुल गए थे। ऐसी तमाम गतिविधियों का सारांश यही था कि 1980 के दशक की शुरुआत में सूरत जिले

की गैर-शहरी जनसंख्या का लगभग एक-तिहाई हिस्सा कृषि से परे काम करने लगा था, जो सम्पूर्ण गुजरात राज्य में ग्रामीण क्षेत्र के औसत से काफी ज्यादा था।

नए कृषि उद्योगों का उदय विविधीकरण की दिशा में झुकाव के लिए और भी सार्थक था। इनमें भी सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं गन्ना कारखाने जहाँ क्षेत्र में पैदा होने वाले सम्पूर्ण गन्ने का संसाधन होता है। इन कारखानों में से एक कारखाने में तो ऐसीटोन नामक रासायनिक साल्वेन्ट भी बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त, गन्ने का अपशिष्ट, धान के छिलके और घास का इस्तेमाल जिले में स्थापित छः पेपर मिलों में कच्चे माल के रूप में किया जाता है। इन मिलों की उत्पादन क्षमता ठीक-ठाक है, और उनकी विशेषज्ञता स्ट्रा-बोर्ड और पैकिंग पेपर के निर्माण में है। नए कृषि औद्योगिक कॉम्पलेक्स का उद्योग की अन्य शाखाओं पर भी प्रेरक प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए, समतल क्षेत्र के एक केन्द्रीय शहर बारदोली में एक स्थानीय लोहारखाना विकसित होकर एक विशाल इंजीनियरिंग वर्क्स में तब्दील हो गया है जिसने पेपर मिलों के लिए मशीनें बनाने में विशेषज्ञता हासिल कर ली है। क्षेत्र में बड़ी संख्या में सम्पूर्ण मशीन भवन सफलतापूर्वक संस्थापित करने के बाद, इस परिवार द्वारा संचालित व्यवसाय को, भारत के अन्य हिस्सों से और यहाँ तक कि विदेशों से भी ऐसे ही उपकरणों के आर्डर मिलने लगे। आखिरकार, पशुपालन भी अधिक व्यवसायोन्मुख हो गया बाद में जिसकी बानगी मध्य गुजरात में प्रसिद्ध अमूल दुग्ध सहकारी समिति के रूप में हुई। दुग्ध का वितरण सूरत शहर में एक सहकारी डेयरी को किया जाता है, जिसने अपना खुद का पशु आहार संयंत्र भी स्थापित किया है, और वही उसका संसाधन भी करती है। और बड़े कुक्कुट फार्मों से एकत्रित अण्डों को दूरस्थ शहरी बाजारों में बेचा जाता है।

इस प्रकार, दक्षिण गुजरात के ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि और उद्योग, पूँजी व प्रबन्धन के सन्दर्भ में आपस में घनिष्ठ रूप से गुँथ गए हैं। इस अन्तर्सम्बन्ध को गन्ने की खेती, जो कि बीते कुछ सालों के दौरान कई गाँवों में लगभग एकल-उपज हो गई है, और उसके संसाधन से सबसे बेहतर रूप में दर्शाया जा सकता है। 1960 के दशक की शुरुआत में बमुश्किल 1000 एकड़ (1 एकड़ = 0.40 हे.) क्षेत्र में गन्ना बोया जाता था, लेकिन दो दशक उपरान्त यह क्षेत्र बढ़कर 142,000 एकड़ हो गया। 1957 में शुरू हुआ सबसे पहला और छोटा कारखाना 7,500 टन की रोजाना उत्पादन क्षमता के साथ आज पूरे एशिया में इस जिंस का सबसे बड़ा सहकारी उपक्रम हो गया है। वर्तमान में, इस क्षेत्र में ऐसे नौ कारखाने हैं और इससे ज्यादा निर्माणाधीन हैं। बिना किसी अतिशयोक्ति के निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि पिछले कुछ सालों में दक्षिण गुजरात में, भारत के अन्य हिस्सों की ही भाँति, कृषि ने उद्योग का आकार ले लिया है। ऐसे बदलावों के मजदूरों पर पड़े प्रभाव का परीक्षण करने से पहले मैं जमींदार वर्ग की चर्चा करना चाहूँगा, जिसने उत्पादन के नए पूँजीवाद साधनों के संक्रमण में मुख्य भूमिका निभाई और जो अब दक्षिण गुजरात के समतल क्षेत्रों में शक्तिशाली हो गया है।

किसान उद्यमी

1960 में जिले के कुल कृषिक्षेत्र के 50 फीसदी से भी अधिक के पास उनके व्ययन के लिए 25 फीसदी से भी कम जोतने योग्य क्षेत्र था। कृषि सोपान में सबसे ऊपर, लगभग 10 से 15 फीसदी समृद्ध किसानों के पास उपलब्ध भूमि का लगभग पचास फीसदी हिस्सा था। उनमें से अधिकतर वहाँ की प्रभावशाली पाटीदार जाति के हैं। यद्यपि कुल जनसंख्या में इस समुदाय के सदस्यों का प्रतिनिधित्व मात्र सात फीसदी है, फिर भी सामाजिक पदानुक्रम में वे अग्रणी हैं।

ग्रामीण कुलीन के रूप में उनकी वर्तमान स्थिति में यह उन्नयन सिर्फ दो-तीन पीढ़ी पहले ही आया था। वर्तमान शताब्दी की शुरुआत में पाटीदारों की ख्याति साधारण और तुलनात्मक रूप से निम्न मूल के समर्पित किसानों के रूप में होती थी, जिनके पूर्वज अपने मूल निवासस्थान सुदूर उत्तरी क्षेत्र में अकाल पड़ने के बाद यहाँ आ बसे थे। 1860 के दशक से प्रारम्भ हुई कपास की खेती ने और तत्पश्चात उसके तेजी से विस्तार ने, औपनिवेशक वर्चस्व के दौरान पश्चिमी भारत में कृषि के व्यवसायीकरण को चिह्नित कर दिया था। शहरों या यहाँ तक कि विदेशों में भी स्थापित व्यापारियों के माध्यम से विश्व बाजार के साथ इनके जुड़ाव थे। इन व्यापारियों द्वारा किसानों को दिए गए ऋण के कारण किसान उनसे बँधे हुए थे।

पाटीदारों का आर्थिक और सामाजिक उत्थान बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में प्रारम्भ हुआ था जब उन्होंने स्वयं की सहकारी समितियों का गठन किया, जिनका कार्य पहले तो कपास की खरीदी करना और फिर उसका प्रसंस्करण करना था। विपणन में उत्पादकों का इस प्रकार बढ़ता नियंत्रण दक्षिण गुजरात के ग्रामीण इलाकों में उत्पादन के एक अधिक पूँजीवादी तरीके में घुसपैठ का एक अहम कदम था, जिसे स्वतंत्रता के थोड़ा पहले व बाद के काश्तकारी सुधारों ने और अधिक गति प्रदान की।

सिंचाई कृषि को अपनाने के साथ ही सहकारी समितियाँ, जिनके लाभ प्रमाणित हो चुके थे, आर्थिक मॉडल बनी रहीं, जिनमें पाटीदारों ने अपने खेत प्रबन्धन का समन्वय किया। इससे उनकी गतिविधियों को विस्तार पाने में मदद प्राप्त हुई। बारदोली की एक सहकारी समिति, जिसके सदस्य केले की खेती में निपुण थे, सिर्फ स्थानीय बाजार में अपने उत्पादन की बिक्री से सन्तुष्ट नहीं थी; 1960 के दशक के अन्त में समिति ने अपने सदस्यों की पैदावार को मध्य-पूर्व के खाड़ी के देशों में निर्यात करने के लिए एक मालवाहक पोत किराए पर लिया। पाटीदार जमींदारों ने, जिन्होंने तब तक प्रगतिशील किसानों के अगुआ के रूप में अपनी सामाजिक पहचान बना ली थी, सहकारी समितियों पर अपना नियंत्रण स्थापित किया और उनके लिए ज्यादातर प्रबन्धकीय स्टाफ भी वे ही मुहैया कराने लगे।

जाति के आधार पर चयन ने यह सुनिश्चित किया कि अपने सहकारी आधार के साथ नया कृषि उद्योग पाटीदारों के गढ़ में विकसित हुआ है। यह विशेष रूप से उन कारखानों पर लागू होता है जो अधिक-से-अधिक मात्रा में गन्ने का संसाधन करते हैं। ऐसे कारखानों के लिए आवश्यक पूँजी की व्यवस्था स्वयं समृद्ध किसान करते, जो कि सरकारी सब्सिडी और ऋण से पर्याप्त मात्रा में परिपूर्ण होती। गन्ने के उत्पादक द्वारा सहकारी समिति में एक अंश की खरीदी से उसे कारखाने में अपना गन्ना पहुँचाने का अधिकार मिल जाता था। कारखाने द्वारा अग्रिम रोकड़ और अन्य आदान जैसे– कृषि विस्तार सेवाओं के साथ बीज, खाद और उपकरण प्रदान करना, कृषि उत्पादन में प्रबन्धकीय हस्तक्षेप को दर्शाता है, लेकिन निजी उद्यमी के रूप में भूमिस्वामी को बेदखल किए बिना। खेती से जुड़े सभी निर्णय किसानों द्वारा लिए जाते हैं, लेकिन ऐसा करते समय वे समिति द्वारा अपने सदस्यों को सुलभ कराई जाने वाली उदार सुविधाओं का ध्यान रखते हैं। प्रत्येक कारखाने के पास एक कृषक स्टाफ होता है, जिसका लक्ष्य उत्पादन और उत्पादकता में वृद्धि करना होता है। यह कार्य उन चुने हुए आदर्श किसानों पर किया जाता है जो बीज की नई किस्मों व बुआई की नई तकनीकों के साथ प्रयोग करने के इच्छुक होते हैं। ऐसे किसानों को चुनने के लिए बैठकों का आयोजन किया जाता है जिनमें नवीन तरीकों पर चर्चा होती है : पड़ोसी महाराष्ट्र राज्य के अधिक उन्नत उत्पादन वाले क्षेत्रों के भ्रमण की व्यवस्था की जाती है; इत्यादि। इसका परिणाम यह है कि उत्पादन अत्यधिक बढ़ गया है, जो कि अब 40 टन प्रति एकड़ से अधिक है। मेरा शोध यह दिखाता है कि सहकारी समितियों के सदस्यों को मिलने वाले भाव की तुलना में उत्पादन की लागत में काफी कम बढ़ोत्तरी हुई है, यह भाव 1989 में 430 रुपए प्रति टन गन्ने का था। क्षेत्र की सबसे पुरानी चीनी मिल के एक शेयर, जिसकी कीमत मात्र 500 रुपए थी, का सौदा 1989 की शुरुआत में लगभग 50000 रुपए या उससे अधिक पर हुआ था। इससे बेहतर कोई और उदाहरण नहीं है जिससे यह बताया जा सके कि गन्ने के उत्पादन से पूँजीवादी किसान कितना अधिक लाभ कमा रहे हैं।

प्रभावशाली जाति वर्ग के जमींदारों की सम्पन्नता में स्पष्ट रूप से वृद्धि हुई है। बड़ी संख्या में समृद्ध परिवारों ने अपने साधारण से घरों, जिनमें वे पहले रहा करते थे, के स्थान पर दो या तीन मंजिलों वाले विशाल बंगले बनवा लिए हैं। फर्श पर टाइल्स, आधुनिक शौचगृह, शहरों में निर्मित फर्नीचर, रेफ्रिजरेटर, रसोई में स्टील के बर्तन, टेलीविजन, वीडियो कैसेट रिकार्डर और तो और, दरवाजे पर एक मोटर साइकिल या स्कूटर, ये सभी वस्तुएँ ग्रामीण कुलीन वर्ग के सुखद जीवन की परिचायक हैं। टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं की मात्रा व गुणवत्ता के साथ-साथ, नाना प्रकार के भोजन व अन्य रोजमर्रा की उपयोगी वस्तुएँ एक समृद्धिशाली जीवनशैली की उपलब्धि को दर्शाते हैं, जो पहले केवल शहरी कुलीन वर्ग में ही पाई जाती थी। घर के सदस्यों की कृषि कार्यों में घटती हिस्सेदारी भी उतनी ही ध्यान देने योग्य बात है। आर्थिक गतिविधियों से महिलाओं व बच्चों की धीरे-धीरे वापसी, खासतौर पर महिलाओं

के घर के बाहर कार्य न करने के सन्दर्भ में, इस सीमा तक हुई कि मुख्य जमींदार जाति के पुरुष सदस्य भी अब खेत में कार्य करने से कतराने लगे और उन्होंने अपने-आप को भाड़े पर लिए गए अपने गैर-पारिवारिक श्रमिकों पर नजर रखने तक सीमित कर लिया है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि पाटीदार अब कृषि को एक व्यवसाय के तौर पर छोड़ने वाले हैं। ऐसा कोई निष्कर्ष इस उद्यमी वर्ग के निवेशी व्यवहार के विपरीत होगा। कृषि संसाधनों से होने वाली उनकी आय के अधिकांश हिस्से का उपयोग इनकी भूमि की गुणवत्ता में सुधार और उनके पूँजीगत स्टाक के आधुनिकीकरण व वृद्धि के लिए किया जाता है। इसके साथ ही अपने फायदे के लिए वे गैर-कृषि बाजारों की ओर भी देख रहे हैं। विविधता की आवश्यकता उनकी इस उत्कण्ठा से उपजती है कि वे आय के स्रोतों को ढूँढ़ सकें जिससे इनकी भावी पीढ़ी अच्छे से रह सके और साथ ही ये समृद्धि के अपने वर्तमान स्तर को भी बढ़ा सकें। इसकी तैयारी के लिए वे अपने बेटों को कॉलेज भेजते हैं। विज्ञान या वाणिज्य में स्नातक डिग्री प्राप्त करने के बाद, पुरुष सन्तान को किसी व्यापार को सीखने के लिए अथवा किसी व्यवसाय में प्रवेश हेतु अकसर इस विचार से बाहर भेज दिया जाता है कि वे स्व-नियोजित हो सकें या इससे भी बेहतर, कि वे छोटे औद्योगिक उपक्रमों अथवा व्यापार प्रतिष्ठानों के मालिक हो सकें। प्रमुख जाति की महिलाएँ अपना प्रसव बाधित करती हैं– आजकल प्राय: बन्ध्याकरण के द्वारा। ऐसा वे दो बेटों को जन्म देने के बाद करती हैं, जिनमें से एक खेती सँभालेगा, और कम-से-कम बेटियों को इस उम्मीद के साथ जन्म देती हैं ताकि समान सामाजिक वर्ग के जीवन-साथी की ज्यादा दहेज व विवाह खर्चों की सम्भावित माँग से बचा जा सके। इस रूढ़िवादी जनसांख्यिकीय रणनीति से यह स्पष्ट होता है कि जनसंख्या वृद्धि में पाटीदारों का हिस्सा कम क्यों है।

ग्रामीण अधिशेष धन में हुई वृद्धि का कुछ भाग शहरी पूँजी में तब्दील हो जाता है, लेकिन जरूरी नहीं है कि इसका यह मतलब हो कि कृषक उद्यमियों का इन निवेशों पर अब कोई नियंत्रण नहीं बचा है। यह अधिशेष जो शहरों तक पहुँच रहा है, अधिक मात्रा में पाटीदारों की युवा पीढ़ी के पास है जो शहरी परिवेश में कार्यशाला स्थापित करने का मौका देख रहे हैं या लघु उद्यमियों और व्यापारियों के रूप में अपने पैर जमाने के लिए कोई दूसरा रास्ता ढूँढ़ रहे हैं। यद्यपि ग्रामीण पूँजी का शहरी अर्थव्यवस्था की ओर बहाव पहली नजर में माइकल लिप्टन द्वारा गाँव और शहर के बीच असमान विकास के एक ढाँचे पर किए गए शोध की पुष्टि करता दिखता है (लिप्टन [Lipton], 1977), मैं यह दलील देना चाहूँगा कि जिस दिशा में धन का प्रवाह हो रहा है वह सामाजिक ताकतों के सन्तुलन में एक अधिक जटिल तब्दीली का केवल एक आयाम है जो आखिरकार ग्रामीण और शहरी पूँजीपतियों के वर्ग के मध्य एक नए वर्ग गठबन्धन के रूप में परिणत हो रहा है।

पाटीदारों की आर्थिक उन्नति ने उनके आत्म-सम्मान को भी बढ़ाया है। भूमिपुत्र के रूप में पहचान होने के कारण वे अपनी ग्रामीण पृष्ठभूमि के साथ कोई समझौता नहीं करते हैं। अपने बृहत्तर क्रियाकलापों तथा विस्तृत अधिकार क्षेत्र के चलते अधिक व्यापक क्षेत्र में काम करने के लिए हालाँकि अब उनके लिए गाँव एक प्लेटफॉर्म से ज्यादा कुछ नहीं हैं। पाटीदारों का जिला स्तर तक और उसके परे भी सांस्थानिक अधोसंरचना पर नियंत्रण है। आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मामलों के सभी प्रमुख स्थानों पर किसी का भी इनसे सामना हो सकता है। ये अल्पसंख्यक अपनी उपस्थिति महसूस कराने के आदी हैं। क्षेत्र के सार्वजनिक जीवन पर इनका प्रभुत्व निहायत ही स्पष्ट है : उद्योग और कृषि सहकारी समितियाँ उनकी जाति के नाम पर हैं; वे विभिन्न राजनीतिक दलों के स्थानीय वर्गों को सँभालते हैं; वे स्कूलों और संस्थानों के प्रबन्धकीय मण्डलों से जुड़े हैं। हर तरह से, पाटीदारों की धरा समतल क्षेत्र का हृदय है।

जातीय एकजुटता, जिसके आधार पर पश्चिमी भारत में सहकारिता आन्दोलन आगे बढ़ रहा है, ने राजनीतिक क्रियाकलाप की बुनियाद तैयार कर दी है। 1920 के दशक में पाटीदारों ने भूमि-कर बढ़ाने के ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारियों के प्रयासों का सफलतापूर्वक विरोध किया था। स्वतंत्रता के बाद भी इस जमींदार जाति की निरन्तर सामाजिक प्रगति के कारण सरकार और उसकी नौकरशाही में भी उनकी अहमियत कम नहीं हुई। उन्होंने अपनी अप्रसन्नता *खेदुत-समाज* के माध्यम से व्यक्त की जो कि कृषि उत्पादकों का एक गैर-दलीय राजनीतिक संघ है और इसके कार्यकर्ताओं में बड़ी संख्या में सूरत जिले के पाटीदार हैं। इस परिवेश की लोकलुभावन सोच के चलते राज्य की सत्ता उन दलीय राजनीतिज्ञों और नौकरशाही नीति-निर्माताओं के हाथों में रही जिनका झुकाव औद्योगिक-शहरी हितों के पक्ष में है। नेतृत्व, भूमिस्वामियों व भूमिहीनों के बीच की बुनियादी एकता पर जोर दे रहा है और उसकी निष्ठा समृद्ध किसानों के प्रति है, लेकिन यह ग्रामीण समाज में व्याप्त विकट विरोधाभासों को छिपाता है। हालाँकि सत्ता के सन्तुलन में वर्तमान झुकाव ग्रामीण क्षेत्रों की ओर होने से हितों के क्षेत्रीय विभाजन में बदलाव आया, वहीं सामाजिक विषमता काफी हद तक वैसी ही रही।

भूमिहीन का जीवन, पहले और आज

सूरत जिले के ग्रामीण सर्वहारा वर्ग की संख्या वहाँ के विभिन्न वर्गों के भूमिस्वामियों से ज्यादा है, चाहे पृथकत: हो या सम्मिलित रूप से। 1981 की जनगणना के अनुसार, भूमिहीन कुल कृषिक आबादी के 54.5 फीसदी का प्रतिनिधित्व करते थे, और यहाँ तक कि उनकी संख्या समतल क्षेत्र के घनी आबादी वाले मध्य हिस्से में भी ज्यादा थी। हालाँकि दक्षिण गुजरात विशेष रूप से कृषि मजदूरों की उच्च सघनता के लिए प्रसिद्ध है, पर राज्य के दूसरे हिस्सों में भूमिस्वामियों का अनुपात भी धीरे-धीरे कम हो रहा है। गुजरात की बात करें तो

1961 में यहाँ प्रत्येक भूमिहीन मजदूर पर 1.24 भूमिस्वामी थे, लेकिन 1981 तक यह अनुपात गिरकर 0.84 हो गया।

कृषिक जनसंख्या के बढ़ते सर्वहाराकरण के लिए कौन-सी युक्तियाँ जिम्मेदार थीं? इस रुझान को उत्पादन के पूँजीवादी साधन के बढ़ने से जोड़ना स्वाभाविक ही है। एक सामान्य व्याख्या यह है कि वर्ग क्रमों के साथ यह पुनर्विन्यास कृषिक सम्पत्ति के संचय को पदानुक्रम में ऊपर रखने का परिणाम है, जबकि बड़ी संख्या में छोटे किसान अपनी जोत गँवाते जा रहे हैं और नीचे की ओर खिसक कर भूमिहीन जीवन जी रहे हैं। हालाँकि ऐसा दोहरा बँटवारा मेरे विचार से वास्तविकता में विद्‌यमान नहीं है, उस क्षेत्र में भी नहीं, जहाँ उत्पादन सम्बन्ध पूँजीवादी लक्षणों में व्याप्त हैं। उदाहरण के लिए, मेरे मैदानी कार्य के क्षेत्र में, मध्यम और छोटी जोतें (क्रमश: 4-8 एकड़ की और 4 एकड़ से कम की) अभी भी अस्तित्व में हैं। सामाजिक पायदान पर अपनी वापसी रोकने के लिए छोटे किसानों के परिवारों ने जो रणनीति अपनाई है, वह एक तरफ तो उत्पादन बढ़ाने और दूसरी तरफ खेती से हटकर काम करके परिवार की आय को बढ़ाने की है जिसके लिए ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विविधीकरण से कई नए अवसरों का सृजन हुआ है। विशेषकर छोटे भूमिस्वामियों के मामले में अपनी जोतों को अगली पीढ़ी के लिए बचाए रखने के प्रयास का मतलब खुद का अधिक दोहन है, जैसे– कम वेतन में लम्बे काम के घण्टे, और घर के सदस्यों की श्रमिक प्रक्रिया में अधिकतम भागीदारी। लेकिन इस रणनीति के कारण युवा पीढ़ी के कुछ सदस्यों को भूमिहीन जीवन भी जीना पड़ रहा है, विशेषकर मूल गाँव से दूर, जिससे कि उनकी गिरती गतिशीलता को ढँका जा सके। दूसरे शब्दों में, सर्वहाराकरण की प्रक्रिया को कम संसाधन वाले किसान परिवारों के 'निरर्थक' सदस्यों के बहिष्करण द्‌वारा ही भड़कावा मिलता है, लेकिन इस बहिष्करण के बिना भूमिस्वामित्व ढाँचे में कोई आमूलचूल बदलाव नहीं आएगा।

दक्षिण गुजरात के समतल क्षेत्रों में रहने वाली भूमिहीन जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा हलपतियों की आदिवासी जाति से सरोकार रखता था, जिनके पूर्वजों को कई सदियों पहले कृषि सम्पत्ति में प्रवेश की मनाही थी। उन्होंने नई भूमि खोजने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, एक क्रमिक प्रक्रिया जो बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में पूरी हुई थी, लेकिन आमतौर पर उनकी भूमिका जमींदारों के नियोजन में मजदूरों जैसी थी। क्या सूरत जिले में सन् 1951 से 1981 के बीच भूमिहीन जनसंख्या शायद उन जातियों की असंगत जनसांख्यिकीय वृद्‌धि के कारण दुगुनी हो गई थी जो परम्परागत रूप से बड़ी संख्या में कृषि मजदूरों के रूप में काम करती थीं? कृषि व्यवस्था के मूल पर बढ़ते दबाव की यह दूसरी व्याख्या निश्चित रूप से उच्च सामाजिक क्षेत्रों में प्रचलित राय के अनुरूप है। यह एक प्रचलित लोकोक्ति है कि भूमिहीनों को अपने परिवार के आकार बाबत कोई मनाही नहीं है और उनके जनसांख्यिकीय व्यवहार की निगरानी हेतु उन्हें बाध्य करने के लिए उन पर गम्भीर, यहाँ तक कि कठोर प्रतिबन्ध लगाए जाने की आवश्यकता है। हालाँकि, इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है कि हलपतियों

ने, जो दक्षिण गुजरात में किसी और जाति के मुकाबले भूमिहीनता से पहचाने जाते हैं, स्पष्ट रूप से उच्च जन्म दर के साथ शेष ग्रामीण जनसंख्या से अलग पहचान बनाई है। 1971 में, मध्य मैदानों के केन्द्रीय हिस्से में बारदोली के आसपास, हलपतियों की जनसंख्या एक-तिहाई थी, जो कि 20 साल पहले की स्थिति के मुकाबले कुछ कम है। 1971 की जनगणना से यह भी पता चलता है कि क्षेत्र की कृषि जनसंख्या में हर चार में से तीन व्यक्ति भूमिहीन वर्ग से आते हैं। निम्नतम सामाजिक श्रेणियों के बीच न तो स्थानीय सर्वहाराकरण (local proletarianization) न ही उच्च जन्म दर से उस रफ्तार की व्याख्या की जा सकती है, जिसके साथ जमींदारों के कृषि मजदूरों के प्रति अनुपात में गिरावट आई है। इसके विपरीत, यह व्याख्या श्रमिक सम्बन्धों में गुणात्मक बदलावों के बारे में भी मिथ्या कथन करती है, जो संरक्षक-अधीनस्थ सम्बन्धों के क्षरण और पूँजीवादी उत्पादन के इस ग्रामीण विकास ध्रुव की ओर लम्बी दूरी तय करके आने वाले मौसमी प्रवासी मजदूरों के प्रवाह के गवाह रहे हैं।

कृषि कार्यस्थल के बदलते स्वरूप की व्याख्या महज मात्रात्मक पदों में नहीं की जा सकती है। पिछली आधी शताब्दी के दौरान, मध्य मैदानों में उत्पादन सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण गुणात्मक बदलाव हुए जिन्होंने जीवन के कृषि आधार पर मजबूती से दबाव बढ़ाया है। पहले, दक्षिण गुजरात के हलपति दासता का जीवन जीते थे। हली उस कृषि मजदूर को दिया जाने वाला एक नाम था जो ऋणग्रस्तता के चलते जमींदार का दास हो जाता था। कम उम्र से ही वह अपने मालिक के लिए एक निर्वाह भत्ते के बदले अनिश्चित समय तक काम करने को बाध्य था। ऐसा सम्बन्ध अकसर बन ही जाता था जब एक समृद्ध किसान अपने मजदूर की शादी करवाता और उसमें होने वाले सभी खर्चों को वहन करता था। शुरुआत में ऋण वस्तु के रूप में होता। आमतौर पर मालिक के पास हली की पत्नी से काम लेने का भी अधिकार होता था, जिसे घर के कामों और मालिक के किशोर बच्चों की देखभाल हेतु नौकरानी के रूप में नियोजित किया जाता था। लड़कियाँ अपनी माँओं की मदद बिना वेतन के करती थीं; आठ या दस साल की आयु तक पहुँचने पर लड़कों को मवेशियों की देखभाल के लिए रख लिया जाता था। कुल मिलाकर, और काफी अन्तर्विनिमेयता (interchangeability) के साथ, दास परिवार खेती के, घर के, और मालिक के प्रांगण के सारे काम करता था। सारा दिन, और जरूरत हुई तो शाम को भी या रात में भी, वे मालिक के इशारों और बुलावे पर हाजिर होते थे। बदले में, मालिक अपने दासों को रोजी-रोटी उपलब्ध कराता था। रोजाना के अनाज के राशन के अतिरिक्त, इसमें सुबह या दोपहर का खाना, तम्बाकू, चाय, कभी-कभार शराब पीने के लिए नगद, जलाऊ लकड़ी, हर साल एक जोड़ी कपड़े, यदि परिवार का कोई सदस्य बीमार हो जाता तो दवाइयाँ, मालिक की जमीन पर एक झोपड़ी, छाजन के लिए बेकार सामग्री (waster material for thatching the roof), और नौकर के लिए एक छोटा जमीन का टुकड़ा जिस पर वह अपने घरेलू उपयोग के लिए कुछ उगा सकता था, शामिल थे।

ऐसे नियोजन की प्रकृति व्यापक नहीं होती थी क्योंकि इसमें न तो वेतन, कार्य का स्वरूप, न ही काम के घण्टे विस्तार से निर्धारित होते थे। काम भी हमेशा उपलब्ध नहीं होता था, और ऐसे विपरीत समय के दौरान हली को अनाज राशन उसे भविष्य में दी जाने वाली मजदूरी के विरुद्ध अग्रिम के रूप में दिया जाता था। इस प्रकार उसकी ऋणग्रस्तता साल-दर-साल धीरे-धीरे बढ़ती जाती थी, कुछ हद तक तो इस कारण कि मालिक बकाया राशि पर ब्याज भी अधिरोपित करता था। किसी भी परिस्थिति में उधार, ब्याज, ऋण, और अग्रिम जैसी अवधारणाएँ सिर्फ नाममात्र के महत्त्व की थीं। कोई भी पक्षकार ऋण के पुनर्भुगतान द्वारा सम्बन्धों की निर्भरता को खत्म नहीं करना चाहता था। जमींदारों के लिए दासता आकर्षक थी, क्योंकि उन्हें नियमित और सस्ती श्रम शक्ति की निश्चिन्तता थी। बदले में, हलपति इस तरह के बन्धन को पसन्द करते थे क्योंकि इससे उन्हें सुरक्षा मिलती थी, हालाँकि वह काफी कम होती थी। औपनिवेशिक रपटें यह दर्शाती हैं कि नैमित्तिक मजदूरों की आर्थिक तौर पर स्थिति काफी खराब थी, वे अल्पसंख्यक थे और समाज में भी उनका सम्मान कम था। स्वैच्छिक दासता के इस रूप में संरक्षण के तत्त्व अन्तर्निहित थे (ब्रेमन, 1974)। मालिक न केवल अपने नौकर और उसके परिवार की देखभाल के लिए प्रतिबद्ध थे, बल्कि उन्होंने उन्हें अन्य लोगों से बचाने का नैतिक दायित्व भी स्वीकार किया था। बदले में, उन्हें अपने अधीनस्थों की सम्पूर्ण मातहती और बिना शर्त वफादारी प्राप्त होती थी।

इस सीधे सम्बन्ध के व्यक्तिगत चरित्र और मालिक एवं नौकर की आने वाली पीढ़ियों के घर के सदस्यों के बीच आत्मीयता व गर्मजोशी पर दबाव डालने पर, इस हली प्रथा का चित्रण करना आसान हो जाता है, जो कि हद से ज्यादा रमणीय है। लेन-देन के मानक, जिन्होंने अधिकारों और कर्तव्यों के असन्तुलित विभाजन को सन्तुलित किया, महज आदर्श रूप में ही अस्तित्व में हैं। व्यवहारतः, मालिक के अपने भूमिहीन अधीनस्थों के प्रति दिखाए गए अहंकार और बाध्यता ने दोनों पक्षों के बीच तीक्ष्ण असमानता पर जोर दिया। मालिक द्वारा अपने सम्बद्ध श्रमिक से हड़पी हुई अधिशेष कीमत शब्द के सीमित अर्थ में केवल आर्थिक नहीं थी। अपने मालिक के प्रति दिखाई जाने वाली अधीनता और सम्मान, जिसके लिए हली बाध्य था, से मालिक की श्रेष्ठता बढ़ी। इस अर्थ में, संरक्षकता को एक पूँजीवाद के पहले के सम्बन्ध के एक सामाजिक-राजनीतिक आयाम, जो दरअसल शोषक था, के रूप में देखना होगा।

इस तरह की दासता बड़ी आसानी से निर्वाह की अर्थव्यवस्था और प्रभावशाली जमींदारों की सामन्ती जीवनशैली से जोड़ी जा सकती है, जो तब समाप्त हो गई जब बाजार के लिए उत्पादन में परिवर्तन किया गया। असल में, इस प्रकार के संकेत हैं कि दक्षिण गुजरात के किसान विश्व बाजार के लिए उत्पादित कपास से प्राप्त फायदे का उपयोग अपनी खुद की श्रम शक्ति के स्थान पर हलियों को नियोजित करने में करते थे, इस तरह वे बाहरी दुनिया में अपनी बढ़ती समृद्धि का प्रदर्शन करते थे। चूँकि खेत प्रबन्धन के मामले में कृषि

अर्थव्यवस्था की पूँजीवादी पैठ के दुष्परिणाम महसूस होने लगे थे, अर्थात– मजदूरी का बढ़ता मुद्रीकरण और सभी आर्थिक सम्बन्धों का संविदाकरण, सशक्त जमींदारों और भूमिहीन मजदूरों के बीच का पूर्व का संरक्षक-अधीनस्थ बन्धन अब कम सार्थक हो गया था। उसके बाद, समृद्ध किसानों ने नियोक्ताओं की भूमिका निभाई और अब वे ऐसे संरक्षक नहीं रहे, जो उन अधीनस्थों को हासिल करने में लिप्त थे, जो आर्थिक उपयुक्तता की दृष्टि से बड़ी संख्या में बेकार साबित हो रहे थे।

औपचारिक रूप से 'मुक्त' श्रमिकों के लिए संक्रमण तब आया, जब जमींदारों ने अपने मजदूरों को सुरक्षा मुहैया कराना बन्द कर दिया क्योंकि उत्पादन के नए तरीके के सिद्धान्तों के अनुसार अर्जित लाभ से लागत की भरपाई नहीं हो रही थी। यकीनन, सम्बद्ध मजदूरों के तंत्र का विघटन भी, और कम-से-कम उतना ही, भूमिहीन मजदूरों के पूर्ण निर्भरता की स्थिति के विरुद्ध किए गए विद्रोह द्वारा हुआ, जिसमें उन्हें जेल जाना पड़ा था। सामाजिक हीनता के कलंक से खुद को आजाद करने के लिए, जो मूल्यों की नई प्रणाली के अनुसार उनकी पूर्व की दासता से जुड़ी थी, कृषि मजदूरों की युवा पीढ़ी ने दैनिक मजदूरों के रूप में आजीविका के लिए एक अलग प्राथमिकता जाहिर की, जिससे उनके लिए जल्दी-जल्दी अपने काम और नियोक्ता को बदलना अपरिहार्य हो गया।

मुक्ति के इस रुझान का दु:खद पहलू यह है कि मजदूरों का मूल्यांकन अब सिर्फ उनके श्रमिक कार्य के आधार पर निर्धारित किया जा रहा है, और मजदूरी के लिए जो मूल्य निश्चित किया गया है, पर्याप्त उपलब्धता के परिणामस्वरूप वह काफी कम है। संरक्षकों द्वारा हलियों के लिए रोजमर्रा की जरूरतों को, काम नहीं होने के दौरान भी, पूरा करने के लिए की गई व्यवस्था भी नैमित्तिक मजदूरों पर लागू नहीं है, अब किन्हीं दिनों काम उपलब्ध नहीं होने की स्थिति में गुजारे के लिए उन्हें अपने संसाधनों का ही उपयोग करना पड़ता है। इस प्रकार, माँग और आपूर्ति के बीच के सम्बन्धों में बदलाव केवल संरचनात्मक नहीं अपितु सांस्कृतिक कारकों, अर्थात दोनों पक्षों द्वारा सीधे सम्बन्धों की उपयोगिता या इच्छा के पुनर्निर्धारण के फलस्वरूप भी आया है। अपने गैर-आर्थिक आयामों में मुक्त श्रम अब सिर्फ एक वस्तु के रूप में पहचाना जा रहा है, लेकिन उसकी उपलब्धता आवश्यकता से कहीं अधिक है।

यह निष्कर्ष मेरे पहले के इस अभिकथन के विपरीत दिखता है कि दक्षिण गुजरात की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में कुल रोजगार बढ़ा है। हालाँकि, स्थानीय सर्वहारों की केवल बहुत छोटी संख्या ही कृषि से परे आय के नए अवसरों के लिए उपयुक्त दिखती है। बड़ी संख्या में वे नौकरियाँ गुजरात के दूसरे भागों या यहाँ तक कि राज्य के बाहर से आने वाले लोगों से भर दी जाती हैं। हलपतियों ने खुद को रोजगार की नई विधाओं से वंचित कर रखा है, जाहिर तौर पर इसलिए कि उनमें आवश्यक हुनर या औद्योगिक मानसिकता की कमी है। प्रवासियों

की भारी भीड़ से भी हलपतियों की कृषि मजदूरों के रूप में रूढ़िगत स्थिति को खतरा है। इसे विशेषकर गन्ने की फसल से ज्यादा अच्छे से समझाया जा सकता है, जो समतल क्षेत्र में हर साल छह से सात महीनों के लिए आने वाली 100,000 से ज्यादा मजदूरों की फौज द्वारा काटी जाती है। कटाई अभियान में स्थानीय श्रमिकों पर आश्रित होने के कारण सहकारी कारखानों की मनाही के कारण ही यह सालाना प्रवास होता है। स्थानीय मजदूरों के प्रवासियों द्वारा विस्थापन के कारणों के बारे में हम बाद में चर्चा करेंगे। इसका प्रभाव यह है कि हलपति आर्थिक उपेक्षा की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं– वह जिससे पुरुषों की तुलना में महिलाएँ ज्यादा पीड़ित हैं।

संरक्षकता की समाप्ति के फलस्वरूप, हलपति कृषि मजदूरों को भी लगा कि सामाजिक रूप से वे अकेले पड़ गए हैं। बिना अपने पुराने मालिकों के मध्यस्थता के, उन्हें अपनी बात सुनने वाला कोई नहीं मिल रहा था जो उन्हें इंसाफ दिला सके। पहले हलपतियों को निर्वाह भर के लिए मजदूरी दी जाती थी, पर वे जमींदारों से करारबद्ध थे जो अपने अधीनस्थों की आजीविका सुनिश्चित करने की इच्छा रखते थे, भले ही उनके लिए कोई काम न हो। बेशक ऐसी उदारता उनके स्व-हित के कारण थी, जिसे उत्पादन के पूँजीवाद के पहले के तरीके के सन्दर्भ में ज्यादा अच्छे से समझा जा सकता है। यह विशेषकर उस सन्दर्भ में है कि रंगमंच एक नए नाटक के लिए तैयार किया गया है। भूमिहीनों ने हमेशा ही निर्धनता की स्थिति में गुजारा किया है, लेकिन कई लोगों के लिए रोजाना की दुर्गति और भयावह हो जाती है क्योंकि अब उनके पास वह बुनियादी सुरक्षा नहीं है जिस पर वे पहले निर्भर हो सकते थे। उनके द्वारा हाल ही में हासिल की गई आजादी के मायने भूखे रहने की आजादी से कुछ ज्यादा हैं।

राज्य के हस्तक्षेप से भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। राष्ट्रीय और राज्य दोनों स्तरों पर सरकार यह मानती हैं कि भूमिहीनों को आजीविका का अधिकार है, लेकिन उन्हें जो सुरक्षा चाहिए, व्यवहार में उसका कोई अस्तित्व नहीं है। विधिक उपायों से न्यूनतम मजदूरी एक स्तर तक निश्चित कर दी गई है जो उत्तरजीविता से थोड़े अधिक की ही अनुमति देती है और इनमें घर के काम न करने वाले सदस्यों के लिए किसी भत्ते का प्रावधान नहीं है। इसके अलावा, जैसा कि मैंने और कहीं स्पष्ट किया है, इस अध्यादेश के अनुपालन पर कोई प्रभावी नियंत्रण नहीं है, जिसका परिणाम है कि वास्तव में जितनी मजदूरी का भुगतान किया जाता है सामान्यत: वह काफी कम होती है (ब्रेमन, 1985)। सरकार ने भी अपने खुद के क्षेत्र में रोजगार में अधिमानता देने के हलपतियों के दावे का समर्थन नहीं किया। आधिकारिक दृष्टिकोण यह है कि श्रमिक का मुक्त संचलन किसी भी तरह से निरुद्ध नहीं है और उत्पादन प्रक्रिया में उनका प्रवेश पूरी तरह माँग और पूर्ति प्रक्रिया के तात्कालिक प्रभावों पर निर्भर होना चाहिए। हालाँकि, जब भी भूमिहीन सर्वहारा की स्थिति को सुधारने की कोशिशें की जाती हैं, राज्य मशीनरी द्वारा उठाए गए निष्क्रिय कदम सक्रिय विरोध में बदल जाते हैं।

ऐसे संगठन, जो श्रम का उपयोग करना चाहते हैं, ग्रामीण पदानुक्रम के निचले भाग में मुक्ति सम्बन्धी झुकाव के लिए आवश्यक हैं। हालाँकि, बुनियादी रूप से प्राधिकारी ऐसे आन्दोलनों को कानून और व्यवस्था के लिए एक खतरे के रूप में देखते हैं और वे प्रारम्भिक अवस्था में ही उन्हें कुचल देते हैं।

यह सुझाव देना गलत होगा कि दक्षिण गुजरात के मध्य समतल क्षेत्र में भूमिहीन एक दब्बू जन समूह है जिसका संघर्ष करने का जोश छिन्न-भिन्न कर दिया गया है। उन्हें निष्क्रियता, नश्वर व्यक्तिवाद, और नियतिवाद (रूडोल्फ और रूड़ोल्फ, 1987: 387) की स्थिति में रहने के रूप में चित्रित करना अधूरा और अन्यायपूर्ण है। कई बार हलपतियों ने यह दिखाया है कि वे अपनी सामाजिक उपेक्षा के प्रति पूरी तरह हार नहीं मानते हैं, लेकिन उनके पास अपने अक्खड़पन को स्थायी और सामूहिक कार्यवाही में बदलने का बहुत कम मौका है। छिटपुट, स्वत:स्फूर्त, और दृढ़तापूर्वक स्थानबद्ध लगातार हड़ताल और श्रमिक विरोध के दूसरे तरीकों की विशेषताएँ हैं। 'वैपन्स ऑफ द वीक' (स्कॉट, 1985) में भी उन कार्रवाइयों और प्रवृत्तियों की एक शृंखला सम्मिलित है जिनके साथ भूमिहीन ने अपनी असन्तुष्टि और आक्रामकता एक अधिक व्यक्तिगत रूप में दिखाई। हालाँकि, ग्रामीण कुलीनों के साथ खुले मुकाबले में उतरने की उनकी बढ़ती उत्सुकता यह प्रदर्शित करती है कि कृषक पूँजीवादियों के उद्यमी वर्ग का आर्थिक, राजनीतिक, और सामाजिक आधिपत्य अविवादित नहीं है (ब्रेमन, 1985a)।

घुमक्कड़ श्रमिक

मैं अब प्रवासी मजदूरों की ओर रुख करता हूँ। भारत के विभिन्न भागों में पैदा हुए आर्थिक वृद्धि ध्रुवों से जो दबाव उत्पन्न हुआ वह बड़ी संख्या में श्रमिकों के उस परिसंचरण की अकेली वजह नहीं थी जिसे मैंने सन्दर्भित किया है। घरेलू क्षेत्रों में संसाधनों पर बढ़ते दबाव के फलस्वरूप बहिष्करण ही प्रवास के लिए एक प्रमुख कारण है, विशेष रूप से उनका जो कृषिक पदानुक्रम में निचले पायदान पर हैं। आंशिक तौर पर तो यह जनसंख्या वृद्धि के कारण हो रहा है लेकिन इसके और कारण भी हैं। हर साल बड़ी संख्या में दक्षिण गुजरात के समतल क्षेत्र में आने वाले प्रवासी मजदूरों के कारण भी ऐसा हुआ क्योंकि ग्रामीण पारिस्थितिकी स्थितियों के चलते उनके घरेलू क्षेत्रों में उन्हें काम मिलना असम्भव हो गया है। भीतरी क्षेत्रों में पानी की कमी लगातार बनी रहती है, जिसका कारण सिर्फ मानसून की विफलता ही नहीं है, बल्कि पिछले दशकों के दौरान बड़े स्तर पर पेड़ों के काटे जाने के परिणामस्वरूप पर्यावरण को हुई क्षति भी है। अधिकतर व्यर्थ बंजर भूमि, जो कि वनों की कटाई का नतीजा है, में अनिश्चित बारिश होती है; इसके परिणामस्वरूप, जमीन की उर्वरता जो पहले कभी भी बहुत ज्यादा नहीं थी, अब और कम हो गई है।

यह कथन विरोधाभासी है कि नई नहर सिंचाई प्रणाली ने, जो समतल क्षेत्र में समृद्ध किसानों को ज्यादा फायदा पहुँचाती है, उस क्षेत्र से श्रमिकों के वास्तविक पलायन को उस ओर अग्रसर किया है जहाँ पानी प्राप्त होता है। ताप्ती नदी पर बनाए गए एक बाँध से कृत्रिम झील बनाने के लिए कई आदिवासी किसानों की जमीन जबरन छीन ली गई। उन्हें मलिन आवासीय बस्तियों में पुनर्व्यवस्थापित किया गया है। अपनी आजीविका से वंचित इन पूर्व किसानों के पास सिंचित समतल क्षेत्रों की तरफ जाने के अलावा और कोई चारा नहीं है, जहाँ वे मजदूरी कर सकते हैं। राज्य द्वारा अपनाई गई इस प्रकार की विकास नीति के परिणामस्वरूप सीधे तौर पर वे अर्ध-सर्वहारा हो गए। स्थानीय सरकार ने आन्तरिक क्षेत्रों में रोजगार की कमी का उपशमन करने के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्य कराने का प्रयास किया, लेकिन ऐसी परियोजनाओं की संख्या, समयावधि, और पैमाना इस प्रयोजन के लिए नाकाफी थे।

मजदूरों की गतिशीलता सामान्यत: ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्र की तरफ प्रवास से उस अंश तक जुड़ी है कि कई लेखकों ने प्रवास को शहरीकरण का लगभग पर्यायवाची मान लिया है। यह सही नहीं है, क्योंकि उनमें से कई ऐसे लोग भी हैं जिन्हें उनकी ग्रामीण अर्थव्यवस्था से तो बाहर कर दिया गया है लेकिन वे ग्रामीण क्षेत्रों में ही निवास कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि कम भूमि वाले किसानों की छोटी संख्या, जो सूरत जिले में गई थी, स्थायी तौर पर वहीं बस गई है। हालाँकि, कभी-कभी साल-दर-साल बहुत बड़ी संख्या में प्रवासी मौसमी मजदूरों के तौर पर समतल क्षेत्र की ओर जाते हैं। अन्तरा-ग्रामीण परिसंचरण के इस ढाँचे की पृष्ठभूमि विकास के स्तर में बढ़ती क्षेत्रीय असमानता से निर्मित हुई है; बदले में, इन 'घुमक्कड़ मजदूरों' ने असमानता को और बढ़ा दिया। पुन:, दक्षिण गुजरात में गन्ने की कटाई में प्रवासी मजदूरों के भारी उपयोग द्वारा इसे स्पष्टतया चित्रित किया गया है।

देशज मजदूर वर्ग, जिससे मध्य समतल क्षेत्र में ग्रामीण जनसंख्या के अधिकांश लोग सरोकार रखते हैं, के न्यूनतम उपयोग के मद्देनजर इन श्रमिकों की उपस्थिति एक आश्चर्यजनक तथ्य है। क्यों जमींदार और दूसरे ग्रामीण नियोक्ता बाहरी लोगों पर निर्भरता को तरजीह देते हैं? कृषक उद्यमी कहते हैं कि स्थानीय भूमिहीन अक्षम, आलसी, उदासीन, शारीरिक रूप से कमजोर, ढीठ, और अविश्वसनीय हैं। ऐसे शब्द हलपतियों के प्रति महसूस की जाने वाली कटुता को बताते हैं, जो एक ऐसा सामाजिक वर्ग है जिसके सदस्यों पर अधीनस्थों के रूप में आचरण करने से मना करने पर आर्थिक पाबन्दियाँ लगा दी गई हैं। हालाँकि, शुरुआती दौर में भी बाहरी मजदूरों से उनका प्रतिस्थापन अधिक तर्कसंगत आर्थिक प्रतिफलों के कारण हुआ था। प्रवासियों के रूप में एक ऐसी श्रम शक्ति मुहैया हुई जो सालाना कटाई अभियान के दौरान न्यूनतम कीमत पर पूरी तरह और बिना शर्त उपलब्ध है।

भीतरी क्षेत्रों में कारखाना अभिकर्ताओं ने इस शर्त के साथ मजदूरों के दलालों से अनुबन्ध किए कि वर्षा ऋतु के अन्त तक दलाल एक निर्दिष्ट संख्या में गन्ना काटने वाले उन मजदूरों को लेकर समतल क्षेत्र में आएँगे, जिन्हें उन्होंने बीते महीनों के दौरान अनुबन्धित किया है। ये श्रम दलाल दल के मुखिया की तरह कार्य करते हैं, अपने नियोजित मजदूरों के लिए उत्तरदायी होते हैं, और गन्ना काटने वाले मजदूरों के रहने के दौरान उनके मुक्ताकाश शिविरों की देखभाल करते हैं। अन्ततः, मई की शुरुआत में मौसम खत्म होने पर वे खुद फिर अपने कार्य दल के साथ समतल क्षेत्र से चले जाने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। जैसे ही गन्ना-कटाई प्रारम्भ होती है, कारखानों का संचालन लगातार दिन-रात होता है। मजदूरों को रात में प्राय: खेतों की ओर लौटना पड़ता है ताकि वे बैलगाड़ियों, ट्रेक्टरों, और ट्रकों के बेड़ों पर माल लाद सकें, जिससे कि उत्पादन चलता रहे। पूरे छह-सात महीनों की अवधि के दौरान एक कार्यदिवस लगभग दस से पन्द्रह घण्टे का होता है। यहाँ तक कि मजदूरों को पाक्षिक रूप से एक दिन का जो आराम मिलता है वह कठिन कार्य पद्धति की रियायत के रूप में नहीं, बल्कि इसलिए मिलता है ताकि कारखानों की सफाई की जा सके।

पारग्रहीय परिवेश में रहने, खेतों में सतत पर्यवेक्षण में और शिविरों में दल के मुखिया, जिसने कारखाने के निर्देशों के कुशल अनुपालन का वादा किया है, की निगरानी के कारण घुमक्कड़ श्रमिक के पास कार्यशील दिवस के अन्त में काम से बच निकलने की कोई गुंजाइश नहीं होती है। इसकी तुलना में, स्थानीय भूमिहीनों को नियंत्रण में रखना काफी मुश्किल होता है, जिन्हें उनका अपना सामाजिक जीवन जीने से इंकार नहीं किया जा सकता था। शुरुआत में, जो कृषि मजदूर समतल क्षेत्र के हैं अपने घरेलू कार्यों को करने के लिए उन्हें समय की आवश्यकता होती है। कुछ साल पहले और खुले अनमने भाव से, एक शक्कर सहकारी समिति ने स्थानीय गांधीवादी आन्दोलन के नेताओं का यह पुनरावर्ती आग्रह मान लिया कि गन्ना-कटाई के कार्य में बड़ी संख्या में स्थानीय कृषि मजदूरों को लगाया जाए। यह प्रयोग जल्दी ही समाप्त हो गया, जब हलपतियों ने कृतसंकल्पित होकर रात के समय काम करने से इंकार कर दिया था।

एक टन गन्ने की कटाई के लिए दो किशोर या वयस्क सदस्यों के एक समूह को, जिसमें अकसर एक पुरुष और एक महिला होती है, एक निश्चित रकम का भुगतान किया जाता है। अपनी दलाली के रूप में कारखाने से दलाल को उसके कार्य दल द्वारा कमाई गई कुल रकम का 10 फीसदी मिलता है। यदि इसको दैनिक मजदूरी में बदला जाए तो गन्ना-कटाई की दर अभी भी न्यूनतम मजदूरी से कम है, जो समतल क्षेत्र में कृषि मजदूरों द्वारा विधिक रूप से माँगी जा सकती है।

दल के रूप में मजदूरों के आने के बाद इन्हें दो चटाई और कुछ बाँस दे दिए जाते हैं ताकि वे अपने आश्रय की व्यवस्था कर सकें। इन टेण्ट-नुमा संरचनाओं के लिए, जो पुरुष, महिला

और बच्चों के रहने के लिए काफी छोटी होती हैं, 'झोपड़ी' शब्द काफी भव्य है। वयस्क अकसर खुले में उन आग के अंगारों के आसपास सोते हैं, जिस पर उन्होंने अपना शाम का खाना पकाया होता है। ऐसे आश्रयगृहों का एक समूह खेत या सड़क के किनारे को, जो उनके पड़ाव के लिए नियत किया गया है, एक शिविर जैसा आभास देता है, लेकिन यहाँ पीने के पानी, कपड़े और बर्तन धोने की जगह, या अन्य स्वास्थ्यकर सुविधाओं का अभाव होता है। जब शिविर के आसपास के गन्ना खेतों की कटाई पूरी हो जाती है, प्रवासियों को दूसरे स्थान पर जाना होता है और एक नया 'शिविर' स्थापित करना होता है। मजदूरों के दलों को जिन्होंने कुछ समय के लिए एक ही पड़ाव साझा किया होता है, उन्हें अब अलग-अलग दिशाओं में जाना पड़ता है और सम्भव है कि अभियान के दौरान वे दोबारा न मिल पाएँ। लगातार होने वाला यह चक्रानुक्रम ही गन्ना काटने वाले मजदूरों के घुमक्कड़ जीवन की विशेषता है।

विशेष रूप से महिलाओं को काफी कठिन जीवन जीना पड़ता है। यद्यपि पुरुष सामान्यत: काटने वाले चाकू का इस्तेमाल करता है, पर उसकी साथी, जो मिलकर एक समूह बनाते हैं, अकसर उसकी पत्नी होती है और कई बार अपने पति को आराम करने के लिए छोड़ देती है। गन्ने की पत्तियाँ निकालना, उसे टुकड़ों में तोड़ना, टुकड़ों के गट्ठे बनाना, और उन्हें खेत से बाहर निकालकर परिवहन के लिए तैयार करना, महिलाओं के ही कार्य होते हैं। छोटे अन्तराल के दौरान, जब पुरुष अपनी पीठ के बल थककर और शान्ति से लेट जाते हैं या बीड़ी पी रहे होते हैं, महिलाओं को खेत से उनके साथ लौटे अपने छोटे शिशुओं की देखभाल करनी पड़ती है और नवजात को स्तनपान कराना होता है। दिन के अन्त में जब मजदूर अपने शिविर की ओर लौटते हैं, महिलाओं के सिर पर खाना पकाने हेतु आग जलाने के लिए आवश्यक लकड़ी होती है। अन्तत:, जब वे शिविर पहुँचते हैं, महिलाएँ रोजमर्रा के कामों जैसे– शाम के खाने की तैयारी और कपड़े धोने में व्यस्त हो जाती हैं।

प्रवासी मजदूरों के आश्रित परिवार के सदस्यों द्वारा उठाई गई कठिनाइयाँ, जिन्हें आन्तरिक इलाके में ही रुकना पड़ता है, शायद गन्ना काटने वालों से ज्यादा होती हैं जो दक्षिण गुजरात कुछ हद तक इस उम्मीद के साथ जाते हैं कि वे इतना पैसा बचा लेंगे ताकि मानसून के महीनों में उन्हें परेशानी न हो। वे लोग जिन्हें रुकने के लिए मजबूर किया जाता है वे काफी कमजोर होते हैं जैसे– छोटे बच्चे और बुजुर्ग, जिन्होंने या तो अभी तक गन्ने की कटाई नहीं की होती या जो अब इस काम को करने लायक नहीं बचे। उनकी श्रम शक्ति अनुपयोगी है और उपभोक्ता के बतौर उनको समतल क्षेत्र में जाने की मनाही होती है। कोई भी व्यक्ति जिसे गन्ना काटने वाले मजदूरों की फौज के प्रति दया की भावना उमड़ती है, उसे यह समझना चाहिए कि उन बुजुर्गों और छोटे बच्चों, जिन्हें घरों पर ही रहना पड़ रहा है, की हालत शायद उन मजदूरों से बदतर होती है।

आन्तरिक इलाके को छोड़ने का दबाव मुख्यत: आर्थिक होता है, यद्यपि ऋणग्रस्तता के तौर पर अभिव्यक्त मौजूदा निर्भरता सम्बन्ध मौसमी प्रवास का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिफल हो सकते हैं। हालाँकि जैसे ही गन्ना काटने वाला मजदूर अपने दलाल के साथ एक कार्य संविदा पर दस्तखत करता है, चुनने की आजादी कम हो जाती है। ऐसा करने पर, उसे सुरक्षा निधि दी जाती है, और इस प्रकार, वह खुद को अभियान के खत्म होने तक काम करने के लिए प्रतिबद्ध कर लेता है। दल के सदस्यों को नियोजित करने के लिए श्रम दलालों को जितनी राशि की आवश्यकता होती है, वह कारखानों से उन्हें मिलने वाली अग्रिम रकम से कहीं ज्यादा होती है। बाकी रकम की पूर्ति वे साहूकारों से ऋण लेकर करते हैं, और स्वाभाविक रूप से वे भुगतान की जाने वाले उच्च ब्याज दर की रकम का बोझ भी मजदूरों पर ही डालते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि गन्ना-कटाई अभियान प्रारम्भ होने मजदूर को मिलने वाले हर एक रुपए के लिए उसे अभियान खत्म होने तक दो रुपए चुकाना होते हैं। इस अवधि के दौरान, अकसर कर्ज बढ़ जाता है क्योंकि प्रवासी अपने दल के मुखिया से कुछ रकम उधार ले लेते हैं। अभियान खत्म होने तक, जब प्रवासी घर लौट रहे होते हैं, मजदूरी का भुगतान रोक लिया जाता है। दल के सदस्यों को पखवाड़े में एक बार सिर्फ निर्वाह भत्ते, जिसमें अनाज राशन के साथ नगदी खर्चों के लिए कुछ राशि (प्रति व्यक्ति प्रति दिन एक या दो रुपए से ज्यादा नहीं) का भुगतान किया जाता है। प्राय: यह हमेशा अपर्याप्त होता है, और तब दल का मुखिया उन्हें कर्ज उपलब्ध कराता है। इसके परिणामस्वरूप, उसका अकसर गन्ना काटने वाले मजदूरों को कर्ज देने से रकम का बड़ा लेन-देन हो जाता है। ऐसा करने का स्पष्ट प्रयोजन दल के सदस्यों को, कारखाने की मौन सहमति से, अनुशासन में रखना होता है।

यद्यपि ऋणग्रस्तता के माध्यम से श्रमिकों को आबद्ध करना विधिक रूप से निषिद्ध है, फिर भी दक्षिण गुजरात के सहकारी उपक्रम अपने श्रमिकों को इसी आधार पर नियोजित करते हैं। श्रम दलाल-सह-दल प्रमुख-सह-शिविर प्रमुख के लिए दाँव यह स्पष्ट करते हैं कि अकसर वह अतिरिक्त आर्थिक ताकत का इस्तेमाल करता है। आखिरी सहारे के रूप में, अनुबन्धित गन्ना-कटाई मजदूरों को समतल क्षेत्र तक लाने के लिए और एक बार वहाँ पहुँच गए, तो वक्त से पहले वहाँ से वापस लौटने से रोकने के लिए शारीरिक हिंसा का प्रयोग किया जाता है। हालाँकि, श्रम दलालों से हिंसक प्रतिक्रिया की आशंका होती है और वे अत्यधिक निष्ठुर होते हैं। इस कार्य में वे अकसर अभिव्यक्त किए जाने वाले दृष्टिकोण, कि गन्ना-कटाई मजदूर आवेगी और मूर्ख हैं, से कारखाने के मैदानी कर्मचारियों का समर्थन हासिल कर लेते हैं। ऐसा माना जाता है कि, यद्यपि कटाई मजदूर गन्दी-से-गन्दी गालियों पर भी नाराजगी नहीं दिखाएँगे, लेकिन किसी छोटी बात पर भी उनका गुस्सा भड़कने की आशंका बनी रहती है और ऐसे में वे गन्ना काटने वाले चाकू से अपने विरोधी को घायल कर सकते हैं या जान से भी मार सकते हैं।

मालिक और नौकर के बीच के पहले के सामन्ती तरह के सम्बन्धों की कड़ी के जिस प्रकार के निर्भरता सम्बन्धों की ऊपर चर्चा गई है उन पर मैं विचार नहीं करूँगा। जरूरी नहीं है कि उभरा हुआ नया दासत्व उत्पादन के पूँजीवादी तरीके के विकास के साथ विरोधस्वरूप है। दूसरे शब्दों में कहें तो, मजदूर के लिए कार्य की शर्तों और निबन्धनों पर स्वतंत्र विकल्प का उपयोग करने में सक्षम हुए बिना गतिशील होना सम्भव है। स्वाभाविक रूप से सहकारिता प्रबन्धन ऐसे किसी आरोप से काफी हद तक इंकार करेंगे कि कृषि-उद्योग मजदूर के उत्पीड़न और अवैध दासता का दोषी है। वे तर्क करेंगे कि गन्ना काटने वाले मजदूर अपने दल प्रमुखों द्वारा नियोजित किए जाते हैं और यह कि मजदूरों के मध्य अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध कारखाने के नियंत्रण के बाहर हैं। प्रबन्धन केवल दलालों से करार करता है, और उस पर कायम रहता है, इन दल प्रमुखों ने गन्ना काटने वाले मजदूरों के साथ क्या समझौता किया है इससे उनका कोई लेना-देना नहीं है।

शासन ने स्थानीय सर्वहारों को बाहरी मजदूरों के विशाल प्रवाह से कोई सुरक्षा प्रदान नहीं की है। प्रवासियों के शोषण और उन पर होने वाले अत्याचार को समाप्त करने के लिए कोई आधिकारिक कदम नहीं उठाया गया है। मौजूदा कानून इस तरह की कार्रवाई के लिए आधार प्रदान करता है, लेकिन अब तक इसका क्रियान्वयन सबसे बेतरतीब तरीके से किया गया है। यह दोनों पर लागू होता है, पहले तो उस अधिनियम पर जो राज्यों के बीच मजदूरों की गतिविधि पर रोक लगाता है और दूसरा वे विनियमन जो श्रम दलालों की गतिविधियों पर निगरानी रखने के उद्देश्य से बनाए गए हैं। सहकारी शक्कर कारखानों को, उनके अपने निवेदन पर, इन कानूनों के पालन से आधिकारिक छूट मिली हुई है। इस उदारता का कोई कारण नहीं बताया गया है। शक्तिशाली शक्कर उद्योगपतियों की प्रभावी कवायद को गुजरात उच्च न्यायालय द्वारा गठित जाँच आयोग को 1987 में मिले एक गोपनीय ज्ञापन से समझा जा सकता है, जो शक्कर उपक्रमों द्वारा मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी के भुगतान में असफलता के चलते प्रबन्धन पर मुकदमा चलाने के लिए सूरत जिले के ग्रामीण श्रम निरीक्षक को सीधेतौर पर रोकता है।

स्थानीय कृषि मजदूरों की तुलना में, जिनका थोड़ा-बहुत राजनीतिक प्रभाव है, और चूँकि वे उसी परिवेश से आते हैं जहाँ के उनके नियोक्ता हैं, मौसमी प्रवासियों की बड़ी फौज राजनीतिक रूप से शक्तिहीन है। जैसा कि गुजरात के एक प्रमुख राजनेता ने मुझसे कहा : गन्ना काटने वाले मजदूर मतदान नहीं करते हैं, न तो उन गाँवों में जहाँ के वे हैं, या वहाँ, जहाँ वे मजदूरी करते हैं। कृषि-उद्योग प्रत्यक्ष तौर पर प्रवासी मजदूरों की स्थितियों के बाबत बढ़ रही आलोचनाओं के बावजूद भी पूरी तरह असंवेदनशील नहीं हैं। उन्हें डर है कि नकारात्मक प्रचार के कारण सरकार अत्याचारपूर्ण श्रमिक क्रियाकलापों पर अपना शिकंजा कस सकती है। निस्सन्देह, अब तक ऐसे किन्हीं सुधारात्मक उपायों के कोई संकेत नहीं

दिखने का कारण पूँजीवादी किसानों की लॉबी द्वारा राज्य और केन्द्रीय दोनों ही स्तरों पर डाला गया भारी दबाव है।

गन्ना काटने वाले मजदूरों के पास सामूहिक विरोधी समूह के निर्माण का कोई अवसर होता है, क्योंकि वे समतल क्षेत्र में केवल अस्थाई तौर पर ठहरते हैं, स्थानीय भूमिहीनों से दूर वे खेतों में और अपने शिविरों में रहते हैं, और आखिरकार, वे अपने दल के अन्त:क्षेत्र में रहते हैं और अपने दल प्रमुखों द्वारा अनुशासित होते हैं, जिनकी मुख्य निष्ठा कारखाने के प्रति होती है। यहाँ तक कि वे अपनी सामान्य पृष्ठभूमि के बारे में भी बात नहीं कर सकते। दस साल पहले की स्थिति के विपरीत, कई कटाई करने वाले लोग अब गुजरात के आन्तरिक क्षेत्रों से ही आ रहे हैं– मेरे अनुमान के अनुसार लगभग 30 फीसदी। लगभग सभी मौसमी प्रवासी उन आदिवासी या अन्य निचली जातियों के होते हैं जिनके पास यदि जमीन होती भी है तो बहुत थोड़ी। विभिन्न श्रम संग्रहों के दोहन से, कारखानों द्वारा महाराष्ट्र पर अपनी निर्भरता कम की जा रही है, जो कि परम्परागत रूप से मजदूरों का मुख्य स्रोत हुआ करता है।

मजदूरों की आयु संरचना भी उभरती हुई एकजुटता के विरुद्ध है। यह बात जाहिर तौर पर समझ में आती है कि कारखाने उन मजदूरों को तवज्जो देते हैं जो अपनी शारीरिक मजबूती के चरम पर हैं अर्थात युवा वयस्क जो कि 16 से 30 साल की आयु के होते हैं। मैंने गौर किया है कि हर साल गन्ना कटाई के काम में कई प्रवासी पहली बार ही भाग ले रहे होते हैं और यहाँ तक कि पुराने लोगों को भी दस साल से कम का ही अनुभव होता है। लम्बे समय तक, कठिन कार्यभार के साथ, बहुत कम लोग ही इस घुमक्कड़ जीवनशैली को कायम रख पाते हैं। दूसरे शब्दों में, चक्रानुक्रम उद्योग की मौसमी प्रकृति की न केवल परछाई है, बल्कि श्रमशक्ति की संरचना का एक मुख्य लक्षण भी है। इसकी स्पष्ट व्याख्या यह है कि केवल बलिष्ठतम व्यक्तियों को ही अभियान की कठोर श्रम पद्धति में लगातार आने के लिए तैयार किया जाता है।

लेकिन इस तरह का निष्कर्ष गन्ना काटने वाले मजदूरों को उपलब्ध चुनने की स्वतंत्रता से अधिक स्वतंत्रता को मानता है। आजीविका के किन्हीं दूसरे साधनों की कमी के कारण उन्हें साल-दर-साल दक्षिण गुजरात की यात्रा करनी पड़ती है। उनके द्वारा भोगे जा रहे शारीरिक क्षमता के क्षय के कारण ही गुजरात के शक्कर कारखानों को कुछ मौसमों के बाद ही नए मजदूर मिल जाते हैं। श्रमशक्ति के लगातार परिक्रमण को बढ़ावा दिया जाता है क्योंकि लम्बा अनुभव रखने वाले मजदूर तो विरोध की भावना दिखा सकते हैं और नए मजदूरों में, जिन्हें अभी काम सीखना है, यह भावना कम होती है। जैसे शिविरों में पृथक रखने से कटाई करने वालों के दल को स्थायी भूमिहीनों के सम्पर्क में आने से रोका जा सकता है, वैसे ही अनुभवियों को नए प्रवासियों से विस्थापित करके मजदूर गतिशीलता को रोका जा सकता है।

ग्रामीण गुजरात में पूँजीवादी गतिकी (capitalist dynamics) की कुँजी सहकारी समितियों द्वारा न केवल उत्पादन, बल्कि उत्पादकता को बढ़ाने के लिए किए जा रहे लगातार प्रयासों में निहित है। बीते 20 सालों के दौरान, समतल क्षेत्र में कृषि योग्य भूमि, जिसमें गन्ना रोपित गया है, के क्षेत्र में तेजी से प्रसार हुआ और इसी अवधि के दौरान प्रति एकड़ उपज में 25 से 30 फीसदी की बढ़ोत्तरी हुई है। स्वाभाविक रूप से, कृषि-उद्यमी की कटाई के काम में सम्भाव्य उत्पादकता लाभ में रुचि होती है। मौजूदा प्रौद्योगिकी के चलते यह बात कल्पनातीत है कि मजदूरों की तीव्रता को और बढ़ाया जा सकता है। अपने सर्वश्रेष्ठ संकल्प के साथ, छह से सात महीनों की अवधि में, दो वयस्क प्रति दिन हाथ से आधे से लेकर दो-तिहाई टन तक गन्ना काट सकते हैं और उसे परिवहन के लिए तैयार कर सकते हैं। अधिक कार्यभार बढ़ने से उनकी शारीरिक क्षमता में गिरावट आ सकती है। मशीनीकरण पर भी अभी तक गम्भीर रूप से सोचा नहीं जा रहा है, लेकिन मैं यह उम्मीद करता हूँ कि इसे अपनाने का प्रलोभन धीरे-धीरे बढ़ेगा। शुरुआती प्रयोग पहले ही किए जा चुके हैं। हालाँकि मशीनों से कटाई निश्चित ही सस्ती तो नहीं होगी– पिछले कुछ सालों में कुल उत्पादन की लागत का केवल 15 से 20 फीसदी ही कटाई मजदूरों को देने में लगता था– गन्ना काटने वाले मजदूरों के साथ बेहतर बर्ताव और वेतन उपलब्ध कराने से बचने के लिए प्रबन्धन को मशीनीकरण पर निर्णय लेना है। तब तक, कृषि-उद्योग में नियोक्ता मशीनीकरण विकल्प को परेशानी पैदा करने वालों के विरुद्ध, जैसे कि वे लोग जो मौजूदा श्रम विधान का पालन करने पर जोर देते हैं, केवल घुड़की की तरह उपयोग कर रहे हैं। कटाई का मशीनीकरण निस्सन्देह बड़ी संख्या में प्रवासी मजदूरों को बेकार कर देगा। किसी दूसरे आजीविका के साधन की कमी के चलते उन्हें भयानक भविष्य का सामना करना पड़ सकता है।

समृद्धि और गरीबी

गन्ने की फसल की शुरुआत से अब तक मुख्य रूप से गैर-कृषिक स्वामियों को ही फायदा पहुँचा है। एक दशक पहले गन्ना काटने वाले मजदूरों को जो मजदूरी का भुगतान किया जाता था वह उस समय कृषिक नियोक्ताओं द्वारा विधिक रूप से भुगतान की जाने वाली राशि की लगभग दो-तिहाई होती थी। 1988 की वसन्त ऋतु के दौरान मेरे द्वारा किए गए ताजे मैदानी कार्य के अनुसार, आज की न्यूनतम मजदूरी का दो-तिहाई ही उन्हें अभी भी भुगतान किया जा रहा है। इससे अनुमान निकालना ठीक नहीं होगा, यद्यपि, इन बीच के सालों के दौरान शोषण का परिमाण नहीं बदला है। पूँजीवादी किसानों द्वारा गन्ने के बदले प्राप्त की गई कीमत में उत्पादन और प्रसंस्करण की लागत की तुलना में ज्यादा तेजी से इजाफा हुआ है। चूँकि उत्पादकों को इस प्रकार लाभ की अतिरिक्त राशि प्राप्त हुई है, पर मजदूरों को कम भुगतान की प्रथा कायम है। प्रभावशाली जाति-वर्ग के सदस्य के रूप में, उत्पादक वह ले लेते हैं जो उन्हें अपना बकाया लगता है : ज्यादा पूँजी, भले ही श्रम से प्राप्त अधिशेष मूल्य श्रमिकों की आजीविका की कीमत पर हो।

द क्रशिंग ऑफ केन एंड ऑफ लेवर (The crushing of cane and of labour) मेरी पुस्तक का शीर्षक है जिसमें मैंने अपने पहले शोध के नतीजों को प्रकाशित किया है जो दक्षिण गुजरात के सहकारी शक्कर कारखानों द्वारा मौसमी प्रवासियों को रोजगार पर आधारित है (ब्रेमन, 1978)। मेरे नए निष्कर्ष दिखाते हैं कि यह संयोजन अभी भी क्षेत्र में कृषि-उद्योग की सफलता से जुड़ा है। सतत और यहाँ तक कि बढ़ती सामाजिक ध्रुवीयता विकासपरक विशेषज्ञों और नीति-निर्माताओं द्वारा इस तरह पोषित उस विचार का विरोध करती है कि आर्थिक वृद्धि, हालाँकि पहली अवस्था में बुनियादी रूप से उनको लाभान्वित कर रही है जिनके पास पूँजी हो या जिनकी पूँजी तक पहुँच हो, का प्रवाह धीरे-धीरे निर्धनों तक भी पहुँचेगा। उस स्थिति में, जिसकी व्याख्या मैंने ऊपर की है, जो किसी भी तरह दक्षिण गुजरात में अनुपम नहीं है, मुझे इस तरह के किसी भी प्रवाह के प्रभाव के संकेत उन लोगों में नहीं दिखे जिनके पास अपनी श्रम शक्ति के अलावा और कोई वस्तु नहीं थी (बर्धन [Bardhan], 1984: 188-199 भी देखें)।

सामाजिक समरसता आदर्श के मुखौटे के पीछे, जिसके साथ सरकार ने अपनी विकासपरक योजनाओं को विधिसम्मत कर लिया है, अमीर और गरीब, शक्तिशाली और शक्तिहीन के बीच गम्भीर असमानताओं में किसी सुधार को लागू करने की एक जरूरी अनिच्छा छुपी है। इसके परिणामस्वरूप, ऐसे लोगों पर, जो अधीनस्थ वर्गों की ओर से बोलते हैं, जल्दी ही क्रान्तिकारी गतिविधियों के दोषी का ठप्पा लगाया जा रहा है। तब भी जब उनका इरादा ऐसे अभावग्रस्त लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करने से कुछ ज्यादा न हो, जो अपनी आवाज बुलन्द नहीं कर सकते, और हालाँकि ऐसा नहीं है कि कानून के दायरे में रहकर उन्होंने अपनी आवाज बुलन्द करने की कोशिश न की हो। अकसर प्राधिकारी ऐसे हस्तक्षेप को अग्राह्य आन्दोलन, सही कानून और व्यवस्था के एक अनुचित आक्रमण के रूप में देखते हैं। पर्याप्त रूप से विरोधाभासी तरीके से, नियोक्ता, वर्ग विभेद और दावे के प्रति किसी भी ऐसी टिप्पणी के विपरीत हैं कि समरसता हासिल करने के प्रयासों से श्रम सम्बन्ध विनियमित होना चाहिए। उनकी अन्तर्दृष्टि में, विरोधी हितों के लिए कोई स्थान नहीं है; मतभेदों को, जो कि कभी भी उभर सकते हैं, नियोक्ताओं और मजदूरों से सलाह-मशविरा करके खत्म किया ही जाना चाहिए।

यद्यपि, समझौते पर पहुँचने के किसी भी प्रयास में बाहरी लोगों जैसे– श्रमिक संघों, राजनेताओं, और दूसरे 'सक्रियतावादियों' (activists) को अपना किरदार निभाने की अनुमति कभी नहीं दी जाना चाहिए। वे लोग, जो स्वयं के भूमिपुत्र होने का दावा करते हैं और जो नव भू-वितरणवाद (New Agrarianism) (रूडोल्फ और रूडोल्फ [Rudolph and Rudolph], 1987: 354-364) के कट्टर सदस्य हैं, अपने प्रभाव के कार्य-क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं करेंगे। वे सरकारी अभिकरणों द्वारा, यद्यपि सँभलकर और अनिच्छा से, सामाजिक

कार्यक्षेत्र में निष्पक्ष मध्यस्थ के रूप में की जाने वाली गतिविधि के किसी भी प्रयास का उग्र रूप से विरोध करेंगे।

भूमिहीन की तकदीर के प्रति उदासीनता उस निष्कपट विरोध के लिए काफी हल्का निरूपण है जो पाटीदारों अपने अधीनस्थ वर्गों के प्रति दिखाते हैं। वे अपने नेताओं से टकराव के रास्ते पर चलने की अपेक्षा करते हैं जिससे और अधिक ध्रुवीकरण हो, और जब प्रमुख किसान संघों द्वारा कुछ साल पहले गुजरात में न्यूनतम मजदूरी को, जो कि पहले ही किसी के लिए भी सिर्फ जीवित रहने के अलावा और किसी भी चीज के लिए अपर्याप्त थी, समाप्त करने की माँग की गई तो सभी ने सहमति जाहिर की। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रभावशाली जाति के सदस्यों द्वारा व्यक्त विचार सामाजिक डार्विनवाद पर चमाचा हैं। वे कहते हैं कि गरीबी कोई समस्या नहीं है बल्कि जो समस्या है वह निचले वर्ग की बड़ी संख्या है, जो खुद अपनी कमियों के चलते में दुख की स्थिति में मौजूद है। उनके विचार से, यदि इसे उस बोझ से मुक्त कर दिया गया होता तो समाज का फायदा हो सकता था। तेजी से भुलाया जाने वाला 1970 के दशक का गरीबी उन्मूलन का नारा, जो अकसर उन लोगों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था जिनके पास सम्पत्ति थी, उस भावना से प्रतिस्थापित हो गया लगता है कि उन लोगों को हटाओ जिनके पास सम्पत्ति नहीं है।

एक विचारधारा ने, जो गरीबों को आसानी से पर्याप्त मजदूरी देने के अधिकार को गलत ठहराती है, यह सुझाया कि ऐसे लोगों को मताधिकार प्रदान करना एक भूल थी। जनसंख्या नीति के लिए इस प्रकार की सोच के प्रत्यक्ष निहितार्थ हैं। प्रचलित विचारधारा के अनुसार, स्वतंत्र चुनाव का इस्तेमाल, जो मिर्डल के मन में तब था जब उन्होंने जन्म नियंत्रण के सरकार-सहायतित उग्र कार्यक्रम के लिए पैरवी की थी, जनसंख्या नीति बनाने के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त नहीं हो सकता। निश्चित रूप से यहाँ उन लोगों के जनसांख्यिकीय व्यवहार को नियंत्रित करने की आवश्यकता है जो गरीबी में रहते हैं, लेकिन ऐसा माना जाता है कि इस निचले वर्ग में उत्तरदायित्व की मानसिकता की, जो कि स्वैच्छिक अभियान के लिए एक पूर्व शर्त है, कमी होती है। उनकी अननुपातिक वृद्धि पर अंकुश अधिक समृद्ध लोगों की इस इच्छा को पूरी करेगा कि इस अनुत्पादक और आपराधिक मानसिकता के माने जाने वाले अधिशेष को पूरी तरह नजरों से या यहाँ तक कि समाज से ही हटा दिया जाना चाहिए। सामाजिक डार्विनवाद की ऐसी प्रवृत्तियाँ, जिनसे मैदानी कार्य के दौरान अकसर मेरा सामना होता था, यह स्पष्ट करती हैं कि क्यों 1970 के दशक के मध्य के आपात काल के दौरान चलाए गए जबरिया वंध्यीकरण कार्यक्रम (forced sterilization program) का ग्रामीण कुलीनों ने पूरी तरह समर्थन किया था। न केवल भूमिस्वामी, बल्कि कृषि मजदूर और दूसरी कमजोर श्रेणियाँ वे समूह थे जिन पर नौकरशाही में उच्चतर स्तर पर निर्धारित कोटे को पूरा करने के लिए स्थानीय प्राधिकारियों ने अपने प्रयास केन्द्रित किए।

दक्षिण गुजरात के ग्रामीण इलाके में उत्पादन के नए तरीके से सामाजिक सम्बन्धों में और कठोरता आई। समाज के निचले दर्जे के लोगों द्वारा दासता से मुक्ति के अधिक जोर-शोर से उठाए गए दावे को बेअसर करने के लिए समृद्ध किसान शारीरिक बल का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकिचाते हैं। ऐसी प्रतिक्रिया उस कड़वाहट को बढ़ावा देती है जो भूमिहीन हलपति लम्बे समय से अनुभव रहे हैं। बढ़ता हुआ तनाव धीरे-धीरे उस वर्ग संघर्ष का रूप ले लेता है, जो ग्रामीण भारत के दूसरे हिस्सों में भी महसूस किया जाता है। हाल ही में स्थापित नई व्यवस्था में सामाजिक वैधता की कमी है, और इसके परिणामस्वरूप शायद राजनीतिक स्थायित्व की कमी भी हो सकती है।

यह स्वीकार करना बहुत आसान होगा कि राज्य शासक वर्ग के हाथों की कठपुतली है, लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि विकास नीतियाँ पूँजी के स्वामित्व पर एक प्रीमियम रखती हैं (बर्धन, 1984a:, 32-39)। 'तीसरे कर्ता' के रूप में राज्य को दर्शाना उसके गरीब विरोधी पूर्वाग्रह की अनदेखी के बराबर है। इस तथाकथित लक्ष्य समूह दृष्टिकोण को– जिसे समानता के साथ वृद्धि, बुनियादी मानवीय जरूरतें, रोजगार गारण्टी योजनाओं, सकारात्मक विभेदीकरण जैसे पदों में व्यक्त किया जा सकता है– एक अधिक अनिष्टकारी परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है। सरकारी अभिकरणों द्वारा उनके अपने संगठनों में भूमिहीनों के किसी भी जुटाव को रोकने लिए लगाए गए अवरोधों ने बराबरी की टुकड़ी के अभ्युदय को रोका है, जो कि वर्गों के मध्य मौजूद प्रबल असमानताओं को कम करने की एक पूर्वशर्त होती। गहराई से देखा जाए, तो राज्य नरम नहीं बल्कि बेहद कठोर है।

मिर्डल ने जिस सामाजिक स्थिरता की बात की थी, अगर उसका कभी अस्तित्व था, तो वह निश्चित तौर पर अतीत की एक परिस्थिति थी। फिर भी, ग्रामीण भारत में पहले की तुलना अब ज्यादा व्यक्ति गरीबी में जीवनयापन कर रहे हैं। जनसंख्या के इस भाग को, जिसे निरर्थक घोषित किया गया है, अछूतों का नया वर्ग कहा जा सकता है : वे लोग जो आर्थिक संव्यवहार में अल्पकालिक हैं, जो ग्रामीण समाज में प्रभावहीन हो गए हैं या यहाँ तक कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था से बाहर कर दिए गए हैं, और जिनकी उन सरकारी सुविधाओं और कल्याणकारी सुविधाओं तक पहुँच नहीं है जिन पर उन लोगों द्वारा दावा किया जा सकता है जिन्हें पूर्ण नागरिक माना जाता है। बजाय डराने-धमकाने और आतंकित करने के विरुद्ध सुरक्षा मिलने के, उन्हें अपने-आप को गुप्त रखना पड़ता है, अगर वे ऐसे लोगों के अभियोग से बचना चाहते हैं जिनके पास कानून और व्यवस्था है। जिस मात्रात्मक अधिवेश का वे प्रतिनिधित्व करते हैं, वह जनसांख्यिकीय से ज्यादा सामाजिक समस्या है।

टिप्पणी

यह निबन्ध जिस मैदानी कार्य पर आधारित है उसे विकास में विकल्पों पर इंडो-डच कार्यक्रम द्‌वारा प्रायोजित किया गया था। लेखक इस निबन्ध के अँग्रेज़ी तर्जुमे को तैयार करने में सहायता देने के लिए जीन सॉनडर्स (John Sanders) का आभारी है।

References

Bardhan, Pranab K. 1984. "Poverty of agricultural labourers and 'trickle-down' in rural India," in *Land, Labor and Rural Poverty: Essays in Development Economics*. Delhi: Oxford University Press.

________. 1984a. *The Political Economy of Development in India*. London/ Delhi: Basil Blackwell/Oxford University Press.

Breman, Jan. 1974. *Patronage and Exploitation: Changing Agrarian Relations in South Gujarat, India*. Berkeley/Delhi: University of California Press/Manohar.

________. 1978. "Seasonal migration and co-operative capitalism: Crushing of cane and of labour by sugar factories of Bardoli," *Economic and Political Weekly* 13: 1317-1360.

________. 1985. "I am the Government Labour Officer . . .: State protection for rural proletariat of South Gujarat," *Economic and Political Weekly* 20: 1043-1055.

________. 1985a. *Of Peasants, Migrants and Paupers: Rural Labour Circulation and Capitalist Production in West India*. Delhi/Oxford: Oxford University Press/Clarendon.

Byres, Terence J. 1988. "Charan Singh (1902-87): An assessment," *The Journal of Peasant Studies* 15: 139-189.

Chakravarty, Sukhamoy. 1987. *Development Planning: The Indian Experience*. London/Delhi: Oxford University Press.

Lipton, Michael. 1977. *Why Poor People Stay Poor: A Study of Urban Bias in World Development*. London/New Delhi: Temple Smith/Heritage Publishers.

Myrdal, Gunnar. 1968. *Asian Drama: An Enquiry into the Poverty of Nations*. 3 vols. New York: The Twentieth Century Fund.

Patnaik, Utsa. 1986. *The Agrarian Question and the Development of Capitalism in India: First Daniel Thorner Memorial Lecture*. Delhi: Oxford University Press.

Rudolph, Lloyd I., and Susanne Hoeber Rudolph. 1987. *In Pursuit of Lakshmi: The Political Economy of the Indian State*. Chicago/Bombay: University of Chicago Press/Oriental Longman.

Scott, James C. 1985. *Weapons of the Weak: Everyday Forms of Peasant Resistance*. New Haven/London: Yale University Press.

Singh, Charan. 1986. *Land Reforms in UP and the Kulaks*. Delhi: Vikas Publishing House.

Wertheim, Willem F. 1964. "Betting on the strong?," in his *East-West Parallels*. The Hague: Van Hoeve, pp. 259-277.

●●